❖ श्री राम उवाच–9

गंगा लौट हिमालय आए

❖ प्रवचनकार :
आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

❖ प्रथम संस्करण : फरवरी, 2008, 3100 प्रतियाँ

❖ मूल्य : 40/-

❖ अर्थ–सहयोगी :
श्री रतनलाल मुकेशकुमार रांका, चैन्नई/सारोठ

❖ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर
दूरभाष 0151-2544867, 3292177, 2203150 (Fax)

❖ आवरण सज्जा व मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
दूरभाष : 9314962475

प्रकाशकीय

आचार्य-प्रवर श्री रामलालजी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् एवं परम पूज्य आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के पट्टधर है। आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने करकमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण में चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की 'पछेवड़ी' प्रदान की थी। आपका प्रथम स्वतंत्र चातुर्मास निम्बाहेड़ा की पावन भूमि पर सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कृति जयपुर चातुर्मास में दिये गये कतिपय मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का संकलन महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयशप्रज्ञाजी म.सा. ने किया। सम्पादन हेतु ख्यातनाम शब्द-शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया गया।

ग्रन्थ-प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्त्ता श्री रतनलालजी राँका, चैन्नई का अर्थ सहकार-रूप आग्रह रहा। इन सभी श्रद्धेय आत्मीयजनों के भरपूर सहकार से यह भागीरथ कार्य सम्पन्न हो सका। अब श्री राम उवाच का नवम् भाग जिसका शीर्षक "गंगा लौट हिमालय आए" आपके हाथों में है। इसका प्रकाशन भी श्री रतनलालजी, मुकेशकुमारजी राकेशकुमारजी राँका, चैन्नई के अर्थ सहयोग से करवाया जा रहा है। श्रद्धेय एवम् आत्मीयजनों के प्रशस्त सहकार हेतु मैं अपनी अनेक शुभकानाएँ एवं शुभभावनाएँ संप्रेषित किए बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्य-प्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि अज्ञानवश यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए मैं हृदय से क्षमाप्रार्थी हूँ।

मुझे विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्य-प्रवर की अमृतवाणी से लाभान्वित होने का सुअवसर प्रदान करेगा।

मदनलाल कटारिया
संयोजक
साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अर्थ सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी राँका
चैन्नई/सारोठ

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर स्वर्गीय श्री रोड़मलजी सा. राँका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्वर्गीय श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। स्व. श्री मेघराजजी रांका के सुपुत्र श्री रोड़मलजी उदार, सरल, धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पाँच पुत्र एवं एक पुत्री हैं। श्री राँकाजी ने अनेक व्रत-प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। नियमपूर्वक 6-6 सामायिक, स्वाध्याय आपकी प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचन्दजी राँका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चैन्नई को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ-साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी अपार यश प्राप्त किया। 'समता-भवन', तण्डियारपेट के निर्माण में आपका मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पदचिन्हों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के अध्यक्ष हैं। तृतीय एवं चतुर्थ पुत्र श्री सम्पतराजजी एवं श्री पारसमलजी एवं पुत्री नवरतनबाई रूणीवाल भी धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी है एवं सपरिवार चैन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवे पुत्र श्री रतनलालजी राँका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सुहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न है। आपका धार्मिक-सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ, तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप में समता भवन एवं उसकी गतिविधियों में काफी प्रशंसनीय कार्य किया। आप पूर्व में श्री साधुमार्गी जैन संघ, चैन्नई के मानद् मंत्री रह चुके हैं साथ ही साथ आप श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष व राष्ट्रीय मंत्री पद को सुशोभित कर चुके है एवं वर्तमान में आप श्री साधुमार्गी जैन संघ, चैन्नई के अध्यक्ष के रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान कर रहे हैं एवं भगवान महावीर अहिंसा

प्रचार संघ, चैन्नई के आप न केवल उपाध्यक्ष है, बल्कि एक कर्मठ कार्यकर्त्ता भी है। स्थानीय एवं बाहर की अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं एवं उनमें आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहता है। आर.आर. ट्रेडिंग कॉर्पोरेशन (प्लास्टिक) आपका व्यापारिक प्रतिष्ठान है। आप केवल व्यापार तथा धनोपार्जन में नहीं, अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक है। धार्मिक क्रियाओं के साथ-साथ आप मानवसेवा के प्रति भी उदात्त भावना रखते है और इसी भावना को साकार रूप प्रदान करते हुए आपने अपने पूज्य माताजी-पिताजी की पुण्यस्मृति में सारोठ में श्रीमती कंचनदेवी रोड़मलजी रांका चिकित्सालय का भी निर्माण करवाया है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति, संत-सती सेवा एवं आतिथ्य-सत्कार में सदैव अग्रणी रहती है एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती हैं। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है कि 'हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है'। आपके दो सुपुत्र- श्री मुकेशकुमार, श्री राकेशकुमार भी अपने पिता के पद्चिन्हों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्रवधु सौ. दीपा व आरती भी धार्मिक प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। आपके दो सुपौत्र श्री ऋषभ, श्री आदेश व एक सुपौत्री महक है।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है। आदर्शत्यागी, पंडितरत्न, शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्शत्यागिनी, विदुषी साध्वी श्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनोई व बहन है।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं वर्तमान आचार्य श्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ को वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी हैं। हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के आठ भाग निकल चुके है और नवम् भाग आपके हाथों में है। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ.....

केशरीचंद सेठिया, चैन्नई

अनुक्रम

1. कर ले तूं अपना कल्याण

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए......।

आर्य सुधर्मा स्वामी के चरणों में उपस्थित होकर जंबूकुमार लौटकर घर पहुँचे और माता से कहा- मातेश्वरी ! मैंने आज सुधर्मा स्वामी के दर्शन किये हैं। माता ने हर्ष से कहा- यह तो तुम्हारा परम सौभाग्य है। तुम्हारी आँखें पवित्र हो गई हैं। तब जम्बूकुमार ने कहा- मैंने आर्य सुधर्मा स्वामी की वाणी भी सुनी है। इस पर माता ने कहा- तुम्हारे कर्ण धन्य हो गये हैं। जम्बूकुमार ने आगे कहा- माता ! मैंने उनकी वाणी को जीवन में उतारा भी है।

आप जरा विचार कीजिये कि तब क्या हो गया धन्य ? देखने से और सुनने से तो एक-एक इन्द्रिय के पावन होने की बात कही गई है। देखने से आँखें और सुनने से कान सार्थक हो गये, पर जीवन सार्थक कब होगा ? जीवन सार्थक कब होता है ? जीवन सार्थक तब होता है जब सुनी बात को हृदयंगम कर लिया जाता है, जब उसे जीवन में उतार लिया जाता है। आप जानते हैं कि शक्कर को, मिश्री को देखने मात्र से मुँह में मिठास नहीं आती। मिश्री के गुण सुनने से भी मुँह मीठा नहीं होता। किन्तु जब मिश्री की डली मुँह में रख ली जाती है, तो फिर मिश्री के गुण कहने या मिश्री को देखने का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। क्योंकि मिश्री की डली मुँह में रखने वाला स्वयं मिश्री के गुणों का आस्वादन कर रहा होता है। इसी प्रकार धर्म की बात सुनना और महापुरुषों के दर्शन करना हमारे जीवन के एक अंश की सफलता कही जा सकती है, किन्तु यदि जीवन को धर्ममय बना लिया जाये तो यह कार्य महत्ता में सुनने-देखने से कहीं अधिक बढ़कर कार्य होगा। उससे जो तृप्ति मिलेगी, वह मात्र सुनने से और मात्र देखने से नहीं मिल सकती।

मृगावती महासती प्रभु के यहाँ रुकीं, प्रभु के व्यक्तित्व

आभा-मण्डल के दर्शन में लीन हो गईं। आर्य चन्दनबाला आदि साध्वियाँ कब गईं, उन्हें पता ही नहीं चला। कथाकार कभी-कभी कह देते हैं कि रात पड़ गई थी, पर ऐसा संभव नहीं लगता कि वहाँ रात पड़ जाती। किन्तु मर्यादा का अतिरेक हो गया। आप जानते हैं कि संतों के स्थान पर साध्वियों का, बहिनों का विकाल में रुकना उचित नहीं होता, किन्तु मृगावती के विकाल का प्रसंग बन गया था अतः मृगावती के अपने स्थान पर पहुँचने पर चन्दनबाला ने कहा- मृगावतीजी ! आप अत्यंत सम्माननीय वंश की नारीरत्न हैं और अत्यंत उत्कृष्ट त्याग-वैराग्य भाव से आपने संयमी जीवन स्वीकार किया है, अतः आप जैसी शीलवती महासती के द्वारा मर्यादा का अतिक्रमण होना उचित नहीं है। मृगावती ने उस आरोप को सुना और पलटकर कह सकती थी- ऐसा मैंने कौनसा अनर्थ कर दिया ? थोड़ी देर ही तो हो गई। परन्तु आपने भी मेरा कौनसा ध्यान रखा ? एक साध्वी को आप अकेला छोड़ आईं। कई बातें कही जा सकती थीं, पर मृगावती ने क्या वे बातें कहीं ? नहीं कहीं, बल्कि आत्मनिरीक्षण किया और मन ही मन आलोचना में उतर गईं। चिन्तन किया कि हा! मेरी गुरुवर्या को मेरे कारण कष्ट हुआ। हे आत्मन् ! तुमने यह क्या किया ? यद्यपि सांसारिक रिश्ते में मृगावती मौसी थीं। सोच लेतीं मन में कि मैं मौसी हूँ। वह बड़ी सती हो गई तो क्या हुआ ? मौसी को ऐसा बोलना चाहिये क्या ? पर उनके मन में कोई ऐसी भावना नहीं बनी, बल्कि वे स्वयं आलोचना में उतरीं कि मेरे निमित्त से आज गुरुवर्याजी को इतना म्लान होना पड़ा ! मेरे निमित्त से इतनी पीड़ा, इतना कष्ट हुआ! वे स्वयं को देखने लगीं कि मैंने यह क्या किया ! क्या मैंने इसलिए साधु-जीवन स्वीकार किया है ? क्या यही है धर्म का जीवन में रमना ? अब विचार कीजिये कि मृगावती ने महावीर के केवल दर्शन ही नहीं किये थे, उनकी वाणी ही नहीं, बल्कि जीवन में महावीर को उतारती भी चली गई थी और जैसे ही महावीर जीवन में उतरे, वे कैवल्य आलोक से आलोकित हो गईं।

इन दो प्रसंगों की बात जिस स्थिति से जुड़ती है, उसकी बात कर लूं, क्योंकि महत्त्व उसी का है। आप जानते हैं कि पर्युपण पर्व आ

रहे हैं, पर हमारे अंतर के आम के पेड़ पर मंजरियाँ आई हैं या नहीं, इस पर भी विचार करें। यदि नहीं आई हैं तो भीतर की कोयल नहीं बोल पाएगी। पर्व पर्युषण आ रहे हैं और अभी भी अंतर की कली विकसित नहीं हो तो क्या हम लाभ उठा पाएँगे ? उस स्थिति में क्या पर्व पर्युषण को आप सार्थक कर पाएंगे। पर्व पर्युषण इसी वर्ष नहीं आ रहे हैं, वे तो वर्षों से, सदियों से आते रहे हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि तीर्थंकर देव स्वयं भी पर्युषण की आराधना करते हैं। गणधर भी इसकी आराधना करते हैं। यह बात अलग है कि उनकी आराधना व हमारी आराधना में अंतर आ गया है। उनका पर्युषण एक अहोरात्र का होता था, किन्तु हमारी मति वैसी नहीं है इसलिए हमें अपने मन के वस्त्र को धोने के लिए सात दिन की व्यवस्था दी गई है। क्योंकि हमारा ज्यादा से ज्यादा समय मलिनता अर्जित करने में लगता है, निरन्तर मलिनता अर्जित होती रहती है, धुलाई का समय ही नहीं मिलता। पक्खियाँ निकल जाती हैं, प्रतिक्रमण नहीं होता है ! कभी संत कह दें तो कहते हैं, हम अतिक्रमण कहाँ कर रहे हैं जो प्रतिक्रमण करें। जब हम अतिक्रमण कर चुके होते हैं या करते है तब एहसास ही नहीं होता कि हम अतिक्रमण कर रहे हैं। जयपुर के व्यापारी भूल चुके होंगे कि इन बरामदों पर अधिकार उनका नहीं है। कौनसे बरामदे ? जौहरी बाजार के। उन बरामदों पर अधिकार किसका था ? भले व्यापारी अब कहें कि अधिकार उनका था, पर क्या हकीकत में उनका अधिकार था ? वर्षों से बरामदों को उन्होंने अपना स्थान या अपनी दुकान बना ली थी पर अब जब सरकार ने खाली करवाया तो पीड़ा होने लगी कि हमारे साथ अन्याय क्यों किया जा रहा है ? पर वे यह नहीं सोचते कि उनका अधिकार था कहाँ ? अतिक्रमण करने वाले नहीं सोचते कि वे अतिक्रमण कर रहे हैं। हम-आप देखें तो समझ में आ जायेगा कि अतिक्रमण का समय बहुत अधिक होता है। हम अपने-आप में स्थित बहुत कम होते हैं। अपने-आप में स्थित होना स्वभाव है, इससे बाहर निकलना सारा का सारा अतिक्रमण है। जीवन के अनमोल क्षण अतिक्रमण में चले जाते हैं, पर हम प्रतिक्रमण के लिए तैयार नहीं होते। पक्खी या चातुर्मासिक के दिन आयें तो उपस्थिति बढ़ जाती है। पयुर्षण में थोड़ी और बढ़ जाती है। हम देवसिय, पक्खी आदि नहीं कर पाते हैं,

इसलिए पर्युषण आराधना के लिए सात दिन की व्यवस्था की गई है कि वर्षभर में सफाई न कर सकें तो सात दिन में ऐसी धुलाई कर लें कि परिक्षपणा बन जाये। कर्मों की झूसणा कर सकें। आत्मशुद्धि कर सकें। इसलिए कुछ अंतर आ गया है। पर्युषण पर्व की आराधना तीर्थंकर देवों ने भी की और कल से हमारे लिए भी पर्युषण पर्व आ रहा है, पर आने मात्र से कल्याण नहीं होगा। पर्युषण तो हमने भी बहुत मनाये हैं, पर आत्मशांति आत्मतृप्ति-आत्मसंतोष हमने कितना प्राप्त किया ? अब इसी का लेखा-जोखा करने की आवश्यकता है कि हमारी आत्मा तृप्त हो रही है या नहीं ?

जंबूकुमार की माँ कहती हैं- दर्शन से आँख पवित्र हुई, व्याख्यान-श्रवण से कान पवित्र हुए, परन्तु सुधर्मा की वाणी को जीवन में उतारा तो जीवन पवित्र हो गया। हमें भी सोचना है कि हमें केवल आँख पवित्र करनी है या केवल कानों को पवित्र करना है या कुछ और भी सार्थक करना है ?

अहमदाबाद में एक व्यक्ति ने एक कम्पनी खोली। उसने अनेक प्रकार के रसायन मिलाकर ऐसा कैमिकल तैयार किया कि कोई दीवार या फर्श कितना भी गंदा हो, उसका प्रयोग उस पर किया जाये तो दीवार या फर्श की गंदगी तुरन्त दूर हो जाती थी। जब प्रयोगों के माध्यम से उसने प्रभावों की पुष्टि कर ली तब उसके बड़े भाई ने सुझाव दिया कि इसका पहला प्रयोग अपने आराधना स्थल में किया जाये। उसने प्रस्ताव दिया कि हरिद्वार के मंदिर में जो दीवारें गंदी हो गई हैं वहाँ पहले इसका प्रयोग किया जाये। प्रस्ताव मंजूर कर लिया गया। वहाँ के पुजारियों-अधिकारियों आदि से चर्चा की गई और तय हुआ कि पहले गर्भगृह की दीवारों-दरवाजों की सफाई की जानी चाहिये। उसने कैमिकल का प्रयोग किया और आश्चर्यकारी परिणाम सामने आया। खभों पर परतें जमीं थी। भक्तों के द्वारा जो अर्घ्य अर्पित किया जाता था और जब हाथ भर जाते थे तो पौंछने का काम उन्हीं खंभों पर होता था। तेल-घी के हाथ निकट के खंभे पर पौंछ लिये जाते थे, इस कारण उन पर मैल की परतें जम गई थीं। भक्त आराधना स्थल पर पहुँचता है पर अपनी प्रवृत्तियों से आराधना स्थल को

भी मलीन बना देता है। जैसे मनोवृत्ति मलीन होती है, वैसे ही आराधना स्थल को मलीन बना देता है। परिणामस्वरूप आराधना स्थल की निर्मलता समाप्त हो जाती है।

पूज्य गुरुदेव शिक्षा के प्रसंग से फरमाते थे कि मुख से कफ या नाक से श्लेष्मा आए तो उसे जहाँ-तहाँ नहीं फेंक दिया जाये। एक डॉक्टर का हवाला देते हुए वे बताते थे कि युगदृष्टा जवाहराचार्य का स्वास्थ्य नरम चल रहा था। डॉक्टर को बुलाया गया। डॉक्टर को जुकाम था, उसने रूमाल निकाला, उसमें श्लेष्मा लेकर हाथ से मसलकर पाकेट में रख लिया। यह नहीं किया कि जहाँ-तहाँ नाक साफ कर लेता। यदि रेत हो तो ऊपर रेत डाल दी जानी चाहिए ताकि मक्खियाँ न भिनभिनाएँ।

उस भाई ने केमिकल का प्रयोग किया तो मलीनता दूर हो गई। वे स्तंभ सामान्य स्तंभ नहीं थे। वे स्वर्णस्तंभ थे। चौंके, ये खंभे ? उनकी जानकारी वर्षों से न ट्रस्टियों को थी, न अधिकारियों, न ही पुजारी को। क्योंकि वर्षों से उन पर मलिनता की परतें जमी हुई थीं इसलिए उनका मूल स्वरूप खो गया था। कोई जानता ही नहीं था कि वे सोने के खंभे हैं। अब, जब जानकारी मिल गई तब फिर उन खंभों पर कितनी सुरक्षा करेंगे ? तनिक विचार कीजिये। घर पर चढ़ने वाली पेढ़ियाँ हैं, उन पर पत्थर जड़ा हुआ है। यदि कोई जौहरी उन पर चढ़ता हुआ कहे कि सेठजी ! ये पत्थर बेचना चाहते हो क्या? तब आपका मन क्या बोलेगा ? आप सोचेंगे क्या बात है, इसमें क्या रहस्य है ? वह कह दे इनमें कीमती रत्न हैं तब वह पत्थर, जो पैरों में रखा था, जो ठोकरें खा रहा था, तुरंत सुरक्षित कर दिया जाएगा। फिर उस पत्थर को फटाफट निकाल लिया जाएगा। अब तक न तो चोर का भय था, न डाकू का। पर अब कितना भय होगा या कि इसे उठाकर तिजोरी में बंद कर दो। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य-जीवन अनमोल है। अब तक आत्मा पर मलीनता के लेप लगा रखे हैं और इतने लेप चढ़ाए हैं कि हम उसके असली स्वरूप को ही भूल गये हैं। उस स्वरूप के बोध के लिए ही पर्युषण पर्व है। पर्युषण के माध्यम से जो वीतराग वाणी कानों में प्रवेश करती है, वह केमिकल है। हमारा ऐसा पुरुषार्थ होना चाहिये कि इस केमिकल के प्रयोग से हम

आत्मा को शुद्ध-परिशुद्ध बना लें। उसके लिए आलोचना का सूत्र दिया गया है कि आलोचना-प्रतिक्रमण करो। आलोचना-प्रतिक्रमण के केमिकल से यह आत्मा शुद्ध बन जाएगी। पूर्व में विषय चला था कि आलोचना से किस फल की प्राप्ति होती है ? तब भी मैंने बताया था कि आलोचना से जीव मोक्षमार्ग में विघ्नकारक और अत्यंत संसारवर्द्धक मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनरूप शल्य को निकाल देता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है। ऋजुभाव को प्राप्त जीव मायारहित होता है, अत: स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बंध नहीं करता है। यदि पूर्वबंध हों तो उनकी भी निर्जरा करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कथन है -

आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाण अणंतसंसारबद्धणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीव अमाई इत्थीवेय नपुंसगवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।

(उत्तरा.२९/५)

आलोचना व्यक्ति की बुद्धि और उसके विवेक को जागृत कर देती है। तब निश्चित है कि ऐसा व्यक्ति स्वत: प्रेरित हो जाता है। उसे किसी के मार्गदर्शन या किसी से प्रेरणा की अपेक्षा नहीं रहती। आप सबके लिये विशेष अनुकूल स्थिति है। पर्युषण पर्व आ रहे हैं और संत भी प्रेरणा दे रहे हैं, परन्तु मैं चाहता हूँ कि प्रेरणा देने की जरूरत ही न पड़े। इशारा भी न करना पड़े। क्योंकि माना जाता है कि जो बिना कहे कार्य करे वह देव, जो इशारे से समझे वह मानव, परन्तु जो इशारे से भी न समझे वह क्या होगा ? आप मानव से ऊँचे उठने की दिशा में आगे बढ़ें। आपको भगवान की वाणी प्राप्त है, आप प्रबुद्ध हैं, फिर भी इशारे और प्रेरणादायी प्रवचन आपको उपलब्ध हैं। इनका भी लाभ उठायें और पयूर्षण पर्व के माध्यम से आत्मा को निर्मल बनायें।

लाल कोठी क्षेत्र के लिए हीरावतजी और उनका ही नहीं, पूरे क्षेत्र का आग्रह है कि यदि संत-सतियों का योग मिले तो आराधना की स्थिति उपस्थित होगी। इनके आग्रह से वि. श्री प्रेमलताजी म.सा. का, जिनकी प्रवचन में पटुता है, 4 ठाणे से पधारना हो गया है तो वहाँ भी

संयोग प्राप्त हो सकता है। यहाँ के लिए कई बातें सामने आती रही हैं कि हाल छोटा पड़ता रहा है। कहीं जावें तो छांटे-पानी की असुविधा हो जाती है। मैंने सुझाव दे दिया कि आपके पास गुंजाइश हो तो हम इतने साधु-साध्वी हैं, जो अलग-अलग स्थानों पर भी उद्बोधन दे सकते हैं। आचार्यदेव का घाटकोपर में चातुर्मास था। वहाँ सुनने वाले 5000/7000 थे। स्थान छोटा ही था। जहाँ तक मुझे याद है, 5 स्थानों पर प्रवचन करवाये गये थे। यहाँ पर भी यदि संघ की व्यवस्था हो, तो हमारी तरफ से रुकावट नहीं है। कोई सोचे शहर में अलग नहीं होता है, ऐसा नहीं है, यह अलग-अलग व्याख्यान की बात नहीं है, किंतु प्रत्येक सुन सके, इस दृष्टि से वैसी तैयारी हो तो उचित व्यवस्था का सूत्रपात किंया जा सकता है। मेरा एक ही उद्देश्य है कि आने वाला व्यक्ति आठ दिन में आत्मशुद्धि का केमिकल लेने में सफल हो और आत्मा को उज्ज्वल बनाये। पर्युषण पर्व की महिमा से आप सभी परिचित हैं इसलिये अन्तरमन को जागृत करें, यही मेरी भावना और कामना है।

25.08.2000
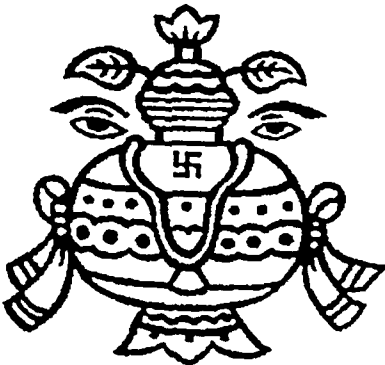
2. कर ले तूं अपनी पहचान

राजकुमार गौतम को जब यह ज्ञात हुआ कि अरिहंत अरिष्टनेमि ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए उसी के नगर में पधार गये हैं और वाहर उद्यान में विराजे हुए हैं तब उसके मन में भावना जगी कि मैं भी प्रभु के दर्शन करूँ और वह प्रभु का दर्शन करने के लिए अरिष्टनेमि भगवान के चरणों में जा पहुँचा। उस समय अरिष्टनेमि भगवान ने उपस्थित परिषद को देशना दी। उन्होंने अपनी देशना में कहा- अपनी पहचान करो।

बंधुओ ! संदर्भ पुराना है, परन्तु बात बहुत पते की है। इंसान सभी को देखता रहता है, सभी को परखता रहता है, परन्तु क्या वह स्वयं को भी परखता है, स्वयं की भी पहचान करता है ? सत्यता तो यह है कि इंसान स्वयं को ही भूला रहता है। स्वयं के द्वारा स्वयं की पहचान करना जितना कठिन काम है, उतना कठिन काम और कोई नहीं है। व्यक्ति सोचता है कि स्वयं की क्या पहचान करना, स्वयं को तो मैं जान ही रहा हूँ, किन्तु यथार्थ में व्यक्ति स्वयं से जितना अनजान होता है उतना अनजान अन्य विषयों से नहीं होता। विदेशों में क्या हो रहा है और पूरे विश्व में क्या घटनाएँ घट रही हैं, उनका ज्ञान वह अपने मस्तिष्क में भरता रहता है। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से तथा टी.वी., रेडियो आदि के माध्यमों से और अन्य न जाने कितने-कितने साधनों के माध्यम से वह जानकारियाँ इकट्ठी करता रहता है, पर मनुष्य का मस्तिष्क स्वयं से ही अनजान बना रहता है। इससे बढ़कर और क्या बदकिस्मती हो सकती है कि मनुष्य अपने से बाहर की तो सारी जानकारी रखे, परन्तु अपने स्वयं से अनजान बना रहे ? यह तो अज्ञान की ही नहीं, दुर्भाग्य की भी पराकाष्ठा हुई। भगवान अरिष्टनेमि इसी अज्ञानता को दूर करने की देशना दे रहे थे- "अपनी पहचान करो।" राजकुमार गौतम ने प्रतिबोध प्राप्त किया और उनका जीवन धन्य हो गया। जो भी अपने को पहचान लेता है, उसका जीवन बदल जाता है।

बंधुओ ! आपने उस सिंह-शावक की कथा सुनी होगी जिसकी माँ उसे जन्म देने के बाद मर गई थी और जिसे एक गडरिये ने अपनी भेड़ों और उनके बच्चों के साथ पाला था। भेड़ों के बीच पलने के कारण वह भी अपने-आप को भेड़ ही समझने लगा था और उसका व्यवहार भी भेड़ों के जैसा हो गया। परन्तु एक बार एक सिंह ने भेड़ों के उस झुण्ड पर हमला कर दिया। उसकी दहाड़ सुनकर सभी भेड़ें भाग चली और उनके साथ वह सिंह-शावक भी भाग गया। दूसरे दिन पानी पीते समय उस सिंह-शावक ने जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा। उसे बहुत आश्चर्य हुआ कि उसकी आकृति तो पिछले दिन दहाड़ने वाले सिंह से मिलती थी, अपने आस-पास खड़ी भेड़ों से नहीं। तब उसने सोचा कि मैं भी गर्जना करके देखूं । उसने केवल जिज्ञासावश गर्जना की, परन्तु उसकी गर्जना सुनकर सब भेड़ें भागने लगीं। तब उसने अनुभव किया कि उसका स्वभाव भी उन भागने वाली भेड़ों के जैसा नहीं था। उसे विश्वास हो गया कि वह भेड़ था भी नहीं। उसका अज्ञान दूर हो गया, उसने अपनी पहिचान कर ली और उसका जीवन बदल गया। इसके बाद वह भेड़ों के साथ नहीं रहता था। ऐसे ही जो अपनी पहचान कर लेता है उसका जीवन बदल जाता है। वह इस संसार और अपने जीवन की वास्तविकता समझ जाता है। तब वह राग-द्वेष-कषाय आदि से अपनी आत्मा को मलीन नहीं होने देता। तब वह सच्चा वीर बन जाता है और तभी वह 'वीर' के पंथ का सच्चा अनुयायी कहलाने का अधिकारी भी बन पाता है। जैसे वह सिंह-शावक अपनी पहचान कर पाया। वैसे ही आप भी अपनी पहचान 'वीर' के रूप में करके 'महावीर' के संघ में मन-वचन-काया और कर्म से सदस्य बन जायें। इस प्रकार आप उस अज्ञान को उतार फेंकेंगे जो किसी दुर्भाग्य या संयोग से आपके साथ वैसे ही जुड़ गया है जैसे सिंह-शावक के साथ जुड़ गया था। ध्यान रखिये कि आपके भीतर भी वह 'वीरत्व' भरा हुआ है। आप धर्म का उद्घोष करके तो देखिये, माया-मोह-लोभ-तृष्णा का सारा रेवड़ भाग खड़ा होगा। आपकी भी कामना जगे, जिज्ञासा उत्पन्न हो तो वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है जो आपको अपनी पहचान करा दे। इसके लिये पुरुषार्थ जागृत कीजिये।

आपके अंदर वह पुरुषार्थ है, पर अब तक आत्मा उस पुरुषार्थ को जागृत नहीं कर पाई है। यह पर्युषण पर्व उसी पुरुषार्थ को जगाने के लिए उपस्थित हुए हैं।

ये पर्व शिरोमणि आये, गाफिल क्यों सोय गमावे रे, ।टेर।
सोता तो गोता खावे, जाग्योड़ा माल उड़ावे
क्यों वृथा समय गमावे रे ॥ 1॥
कष-आय कषाय कहाते, प्रभुवर से दूरी बढ़ाते
लख चौरासी भटकावे रे.......॥ 2॥
नहीं मनुहारयां करवाणी, करो तपस्या कर्म खपाणी
गर सुख मुक्ति का चावे रे, ये पर्व....... ॥ 3॥
उठ जाग गुरु समझावे, क्यों इत-उत तू भरमावे
ले ज्ञान मशाल फरमावे रे, ये पर्व......॥ 4॥

बंधुओ ! ये पर्व सारे पर्वों में शिरोमणि है, उत्तम है। अन्य पर्व आश्रव को बढ़ाने वाले हैं, अन्य पर्व भोगों की प्रेरणा देने वाले हैं, किन्तु पर्व पर्युषण भोग से योग की ओर ले जाने वाले हैं, 'पर' से 'स्व' में स्थापित करवाने वाले हैं। ये हमारी भेड़-चाल को समाप्त करके सिंह का शौर्य जागृत करवाने वाले हैं, ये आत्मलक्षी पर्व हैं और आत्मलक्षी पर्व ही शिरोमणि अवस्था प्राप्त करवाने वाले होते हैं।

बंधुओ ! व्यक्ति अपनी पहचान क्यों भूला रहता है, इसके अनेक कारण होते हैं। एक कारण होता है सुसंस्कारों का अभाव और धन का मद। कल्पना कीजिये कि एक बहू विपुल दहेज लेकर आती है, बहू को सासूजी आवाज लगाती हैं कि बहूरानी ! नीचे पधारो, गाँव के पंच पधारे हैं। बहूरानी का उत्तर होता है- अभी मैं अपने मेकअप में लगी हूँ, देर लगेगी आने में। वहीं यदि बहू संस्कारित होती और सासूजी आवाज लगाती तो वह बहू सम्मान प्रकट करती हुई आती, सभी को नमस्कार कर आशीर्वाद प्राप्त करती और विनय का स्वरूप उपस्थित करती। ये संस्कार कैसे जगे ? कैसे मिले ? ये संस्कार कहीं बाहर नहीं, हमारे भीतर ही हैं। किन्तु हम इन संस्कारों पर इस प्रकार के पर्दे या आवरण डाल देते हैं कि उन आवरणों के कारण यथार्थ का बोध नहीं कर पाते और अयथार्थ में

जीते हुए मानसिक यातनाओं का सामना करते हैं। तब हम न जाने कितने-कितने तनावों और मानसिक यंत्रणाओं को सहने के लिए विवश हो जाते हैं।

अनेक बार यह भी देखा जाता है कि व्यक्ति अंदर ही अंदर टूट जाता है, गमगीन बना रहता है। परिणामस्वरूप आत्महत्या तक के विचार उसमें उत्पन्न होने लगते हैं। ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि उसने स्वयं की पहचान नहीं की होती है। वह बाहर ही बाहर भटकता रहा होता है। बाहर भटकने वाला बाहर से तो बहुत-कुछ अर्जन कर लेता है, पर स्वयं का जो अर्चन होना चाहिए, वह हो नहीं पाता। अंतर में जो परमात्मा का अर्चन होना चाहिये, वह घटित नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में वह भयाक्रांत बना रहता है। अनेक प्रकार के भयों से भयभीत होता है। जिस समय वह भयभीत होता है, उस समय उसके भीतर एक रसायन पैदा हो जाता है। उसे इसका अनुभव नहीं हो पाता, किन्तु आज का विज्ञान इस मानसिक अवस्था के प्रमाण प्रस्तुत करता है। एक व्यक्ति प्रफुल्लता में प्रवाहित हो रहा है तब उसके शरीर के, रक्त की शोध की जाये और एक जब भयभीत है तब उसके खून का टेस्ट किया जाये तो दोनों की रिपोर्ट में अंतर आयेगा। वह अंतर यह झलकाता है कि अमुक व्यक्ति अभी भय की अवस्था से गुजर रहा है। कवि आनन्दघनजी कहते हैं- भय हमें साधना में गति करने नहीं देता, स्वयं की पहचान नहीं करने देता। अनेक प्रकार के भय वह बाहर की पोजीशन से इकट्ठा करता रहता है।

एक सम्राट् के मन में भाव जगा कि मैं अपना सुन्दर फोटो बनवाऊँ ? कभी-कभी ऐसी भावना जग जाती है। आज का मनुष्य तो विशेष रूप से अपने फोटो का प्रेमी बन गया है। एक समय था, जब व्यक्ति नाम से राजी हो जाता था। उसने दान दिया और उसका नाम अखबार में आ गया तो वह राजी हो जाता, पर आज नाम से संतोष नहीं होता। नाम के साथ वह अपना फोटो भी प्रकाशित हुआ देखना चाहता है। और फोटो कैसा होना चाहिये ? क्या उसमें आँखें टेढ़ी-मेढ़ी हों, कपड़े फटे हों, नाक भौंडी हो, ऐसी होनी चाहिए ? अरे क्या बतायें, फोटो खिंचवाने के लिए किसी वृद्ध पुरुष से कह दो तो वह भी बन-ठनकर, साफा-पगड़ी

बांधकर झब्बा-कुर्ता पहनकर और मूंछों में ताव लगाकर बैठेगा और फोटोग्राफर से कहेगा- मेरी फोटो ठीक आनी चाहिये। और फोटोग्राफर सुन्दर फोटो आवे उसके लिए कैमरे में अपनी आँखें गड़ायेगा और कहेगा- थोड़े-से सीधे हो जाओ। आप ठीक हो गये तो फिर कहेगा- थोड़ा मुस्कराओ। और फोटोग्राफर के कहने से उसके चेहरे पर थोड़ी प्रफुल्लता आ जाती है। चाहे उसके अंतर में कितना भी दुःख हो, पर ऊपर से वह मुस्कान लाने की कोशिश करता है। यह मुस्कान ऊपरी होती है और थोड़ी देर के लिए लाई जाती है। पर संत कहते हैं कि इस फीकी मुस्कान से गरज सरने वाली नहीं है। यथार्थ में मुस्कान वह है कि जिसमें हम अंतर से प्रफुल्लित हो जायें। फिर चेहरे पर मुस्कान लाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। तब हर समय चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिला रहेगा। यह पर्व पर्युषण ऐसी ही स्थायी आंतरिक मुस्कान पैदा करने का संदेश देता है। आन्तरिक भय के भूत को यदि भगा दिया जाये तो फिर देखिये, चेहरे पर कैसी खुशहाली छा जायेगी ! फिर चेहरे पर किसी भी प्रकार की म्लानता का भाव नहीं दिखेगा। चिन्तन करिये, क्या रोने से राज मिलता है ? यदि व्यक्ति रोता रहे कि मुझे सम्राट् बना दिया जाये तो रोने से वह सम्राट् नहीं बन सकता है। किन्तु यदि पुरुषार्थ करे तो एक दिन सम्राट भी बन सकता है। आपको विश्व विजेता तैमूरलंग की कथा मालूम होगी, जो एक गडरिया था। परन्तु जब उसका पुरुषार्थ जागृत कर दिया गया तो वह महान् विश्वविजेता बन बैठा। व्यक्ति का भाग्य कब जाग जाता है, यह तो समय पर ही पता चलता है। समय से पहले कितने ही प्रयास करो, कुछ नहीं होगा। आप तो यह ध्यान में रखकर पुरुषार्थ करते चलो-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः

कर्त्तव्य-कर्म में कमी नहीं होनी चाहिए। यह नहीं सोचें कि भाग्य में होगा तो मिल जाएगा। भाग्य के भरोसे बैठे रह जाने से कुछ नहीं मिलता क्योंकि भाग्य भी पुरुषार्थ के बिना फलता नहीं है। इसलिये लाभ मिले या ना मिले, कभी परेशान नहीं होना चाहिए, कर्म करते रहना चाहिए।

भगवान ऋषभदेव का जीवन देखिये, बेले की तपस्यापूर्वक श्रमणत्व स्वीकार किया। उसके बाद प्रतिदिन भिक्षा के लिए भ्रमण करते थे। एक दिन निकला, दूसरा दिन निकला और ऐसा करते-करते दिन ही नहीं महीने निकल गये ? एक वर्ष तक वे भ्रमण करते रहे। उन्होंने मन में यह नहीं सोचा कि कब तक भिक्षा के लिए भ्रमण करता रहूँ, साधुपना लेकर घर-घर घूमता रहूँ ? वे यदि ऐसा सोच लेते कि जिस दिन भिक्षा मिलनी होगी, मिल जाएगी, घर-घर क्यों घूमूं, तो क्या सफल होते ? किन्तु वे महापुरुष भाग्य के भरोसे नहीं रहे। जो पुरुषार्थी होते हैं वे पुरुषार्थ करते हैं। हम भी केवल भूतकाल के आधार पर रोना न रोयें कि मेरे तो यह हो गया। अरे ! क्यों लकीर के फकीर बनकर उस लकीर को पीट कर रो रहा है ?"

बीती ताहि बिसारि दे,
आगे की सुधि लेय"

- अब आगे की सुध ले कि क्या करना है। आगे गंतव्य की तरफ कदम बढ़ाना है, बीती बातों को लेकर रोता रहेगा तो कभी जीवन में शांति नहीं ले पाएगा।

बंधुओ ! पर्युषण पर्व इसलिए आये हैं कि बीती गांठों को खोल दो। यदि गाँठों को नहीं खोला गया तो स्राव नहीं हो पाएगा, वहीं रुक जाएगा, गांठों के पीछे रह जाएगा और वे गांठें पूरा रस पी जाएंगी। पर यदि उन गांठों को खोल दिया, भुला दिया तो तन-मन दोनों स्वस्थ व प्रफुल्लित हो जाएंगे। आपसे कहें- प्रतिक्रमण याद करिये, तो कहोगे- प्रतिक्रमण याद नहीं होता। परन्तु किसी ने कोई अप्रिय बात कह दी, तो वह वर्षों तक याद रखते हैं, जबकि आपने क्या कहा था, वह याद नहीं रहता है। भगवान कहते हैं कि दुनिया ने क्या कहा उसे भूल जाओ और तुमने क्या कहा, उसे याद कर गांठों को खोलने का प्रयत्न करो। यह नहीं कि आठ दिन में बेला, तेला, अठाई कर लिया, संवत्सरी का प्रतिक्रमण भी कर लिया, किन्तु भूतकाल की बातें दिमाग में ठसाठस भरी रखीं तो आराधना सही तरीके से नहीं हो पाएगी। आराधना नहीं होगी तो आत्मा भी अपनी मुस्कान बिखेर नहीं पाएगी।

मैं बता रहा था उस सम्राट् की बात। वहुत-से चित्रकार इकट्ठे हुए और उन्होंने चित्र बनाये, पर राजा ने सारे के सारे चित्र नापसंद कर दिये। एक छोटा चित्रकार बच गया था। उसने निवेदन किया- मैं बनाऊंगा। राजा ने कहा- ये बड़े-बड़े धुरंधर भी जव मेरी पसन्द का चित्र नहीं बना सके तो तूं क्या कर पाएगा ? बंधुओ ! हमारी आदत है कि हम यही सोच लेते हैं कि जब बड़े-बड़े धुरंधर भी कोई काम नहीं कर पाये तो ये छोटे क्या कर पाएँगे ? किन्तु आप जानते होंगे कि चन्द्रगुप्त के स्वप्नों में बताया गया था कि छोटे-छोटे बछड़े भरी हुई गाड़ी को खींच रहे हैं-

छोटा-छोटा बालूड़ा, आया धर्म की ओट।
बूढ़ा हुआ तो क्या हुआ, रह गया ठोठमठोठ।

वृद्ध पुरुष वर्षों तक धर्मकरणी कर लेते हैं, फिर भी वहीं के वहीं खड़े रहते हैं। तेली का बैल दिनभर चलकर मेहनत करता है, किन्तु रहता वहाँ का वहीं है। सम्राट् ने कहा- बड़े-बड़े धुरंधर नहीं बना सके तो तूं क्या बना पाएगा ? उस छोटे चित्रकार ने कहा- मैं क्या बना पाऊंगा यह तो बना लूं तब देखियेगा, पर मेरा विश्वास है कि मैं आपका मनपसन्द चित्र बना पाऊँगा। राजा ने कहा- ठीक है, बनाओ। चित्रकार ने कहा- हुजूर मेरी यह भावना है कि अकेला चंद्र शोभित नहीं होता। वह तारागणों के बीच ही सुशोभित होता है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि अकेले आपको ही नहीं, किन्तु आपके सभासदों को भी चित्र में अंकित किया जाये। सम्राट् ने कहा- ठीक है, ऐसा ही करो। उसे इजाजत मिल गई। उसने एक बड़ा पाटिया लिया और अपने इष्टदेव का स्मरण कर चित्र बनाने की तैयारी में बैठा, इतने में एक दरबारी आ गया और बोला- चित्रकार साहब ! नमस्कार। चित्रकार ने नमस्कार का उत्तर देकर पूछा- भाई ! बोलो, क्या बात है ? उसने कहा- देखो तुम दरबारियों का चित्र बना रहे हो, पर मेरी नाक ऊँची चढ़ी हुई है, भौंडी है, पर तुम चित्र में ऐसी मत बना देना। यह अपने घर की बात है, तुम यहाँ रहोगे तो कुछ खर्च भी होगा। और उसने सोने की कुछ अशर्फियाँ उसके सामने रख दीं। चित्रकार ने कहा- ठीक है, जैसी कहोगे, वैसी बना दूंगा। वह तो चला

गया। तभी वृद्ध मंत्री का संदेश पहुँचा। वृद्ध मंत्री का संदेश पहुँचे, फिर वह घर में बैठा कैसे रहता ? इसलिए हाजिर हो गया सेवा में। मंत्री ने कहा- तुमने बड़ी भारी समस्या खड़ी कर दी है। तुम सम्राट् के साथ सभा को भी चित्रित करना चाहते हो। यह तो ठीक है, पर अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ लेकिन जब सभा प्रारंभ हुई थी तब मैं जवानी में था। इसलिए मेरा जवानी का चित्र अंकित करना। चित्रकार ने कहा- ठीक है। उन्होंने भी चित्रकार को भेंट दी। वह घर पहुँचा। इतने में सेनापति आ गया और बोला- ऐ चित्रकार ! ध्यान रखना, मेरा पैर युद्ध में कट गया था। मुझे बैसाखी के सहारे चलना पड़ता है, पर फोटो में ऐसा अंकन नहीं होना चाहिये। उसमें तो पैर पूरा होना चाहिये। चित्रकार ने स्वीकृति दे दी। सेनापति भी भेंट दे कर रवाना हुआ। तब तक राजपुरोहितजी आ धमके और बोले- चित्रकारजी ! चित्रकार बोला- पंडितजी आप पधारे हैं तो आदेश दीजिये। पंडितजी ने कहा- देखो भाई, हमारा वंशानुगत संस्कार होने से मेरा पेट मोटा है, पर फोटो में ऐसा मत कर देना क्योंकि मेरा शरीर तो चला जाएगा पर फोटो वर्षों तक रहेगी, जिसे आने वाली पीढ़ियाँ भी देखेंगी। ऐसा कहकर पंडितजी ने भी दक्षिणास्वरूप कुछ राशि चित्रकार के सम्मुख रख दी और चले गये। चित्रकार बेचारा माथा पकड़कर बैठ गया, कैसे बनाऊँ चित्र ? यदि इनके कहे अनुसार चित्र बनाऊँ तो सम्राट् कहेंगे- यह चित्र गलत है, यथार्थ का अंकन नहीं किया है। इससे सम्राट् खुश होने के बजाय दंड भी दे सकते हैं। इतने में सम्राट् का एक गुलाम आ गया। बोला- तुम्हारा काम तो अच्छा चल रहा है। चित्रकार ने कहा- अभी तो शुरू ही नहीं किया। उसने कहा- जल्दी करना अन्यथा सम्राट् नाराज हो जाएंगे। "नादान की दोस्ती जी का जंजाल", चित्रकार ने सोचा- जैसे नादान की दोस्ती जी का जंजाल होती है वैसे ही राजा की दोस्ती भी जंजाल बन जाती है। कहा भी गया है-

राजा, योगी, अग्नि, जल, इनकी उलटी रीत
बचते रहिये परशराम, थोड़ी पाले प्रीत॥

आप सोच लें कि अग्नि से मेरा प्रेम है और हाथ उसमें रख दें तो क्या होगा ? हाथ जल जाएगा। यदि कोई सोचे कि महासती सीता नहीं

जली थीं तो हमारे हाथ क्यों जलेंगे ? तो समझ लीजिये कि हमारे भीतर का भय हमें आग से जलाता है। चित्रकार के मन में भी भय संचरित होने लगा। कैसे बनाऊँ चित्र ? आखिर परेशान होकर वह सो गया। रात्रि में उसने स्वप्न देखा, जिसमें उसे समाधान मिल गया। सुवह उठा और हाथ में कूची लेकर चित्रफलक पर चित्र अंकित करने लगा। जव चित्र तैयार हो गया तो मन में विचार बना- यह कैसे हो गया ? कहाँ से उसे प्रेरणा मिली थी ? जिन विचारों में खोया, परेशान वह सोया था, शांति के क्षणों में उसे मस्तिष्क से दिशाबोध प्राप्त हुआ। कभी हम भी कह देते हैं- दैवी शक्ति से हुआ, पर हमारे मस्तिष्क में ऐसी शक्ति है। वहाँ से संकेत मिल सकते हैं, बशर्ते कोई लेने वाला हो।

चित्रकार ने एक सप्ताह में चित्र अंकित कर दिया और राजा से कहा- राजन् ! मैंने चित्र तैयार कर दिया है। राजा ने कहा- मैं देखना चाहता हूँ। चित्रकार ने कहा- चित्रशाला में ही पधारेंगे तो ठीक रहेगा। राजा पधारे। देखा, एक बड़े फलक पर चित्र बना है, किन्तु उस पर आवरण डाला हुआ है। राजा ने पूछा- इस पर कपड़ा क्यों डाला है ? चित्रकार ने कहा- गंदा न हो जाये, इसलिए डाला है। राजा ने कहा- हटाओ इसे। हटाया तो राजा चित्र देखते ही दंग रह गये क्योंकि उसने सम्राट् का चित्र वस्तुतः इतना भव्य बनाया था कि वे उसे देखते ही प्रफुल्लित हो गये। किन्तु जैसे ही उनकी दृष्टि सभा पर गई, वे आश्चर्यचकित हो गये और पूछ लिया कि यह क्या किया ? मेरा चित्र तो ठीक बनाया, पर सभा का चित्र कैसा बनाया है ? चित्रकार ने कहा- हुजूर ! क्या करूँ, जो व्यक्ति जैसा है वैसा वह दुनिया में दिखना नहीं चाहता। वह यथार्थ को नहीं, अयथार्थ को अंकित करवाना चाहता है, इसलिए मैंने सभी के चेहरों पर मुखौटे लगा दिये हैं। मुखौटे अलग होते हैं, व्यक्ति अलग होता है और इन सभासदों ने मेरे सामने जो विचार व्यक्त किये थे उनका ध्यान रखकर ही मुझे अंकन करना पड़ा। फिर उसने एक-एक की बात सम्राट् के सामने प्रकट कर दी, जिसे सुनकर वे प्रमुदित हुए और बोले- अरे ! तूने चित्र ही नहीं बनाया है, इसके साथ ही मुझे बहुत बड़ी शिक्षा भी दी है। सम्राट् ने एक हजार अशर्फियाँ उसे

चित्र बनाने के लिए व एक हजार अशर्फियाँ उसकी बुद्धिमत्ता के लिए प्रदान कीं।

हमें चिन्तन-मनन करना है कि उसने तो दरबारियों को सही अंकित किया, क्योंकि वे मुखौटे में जीने वाले थे, किन्तु हम तो धर्म-क्षेत्र में जीने वाले हैं। हम तो मुखौटों में नहीं जी रहे हैं। यथार्थ में यदि हमारा वास्तविक अंदर का रूप कुछ और हैं और हमारा ऊपर का दिखावा कुछ और है ऐसे में कल्याण नहीं होगा !

कैसे हो कल्याण, करणी काली है,
नहीं होगा भुगतान हुँडी जाली है।

यदि कोई जाली हुँडी लेकर आ जाये तो क्या आप स्वीकार कर लेंगे ? यदि कोई जाली चैक या नोट आ जाये ? यदि भूल से आ गया हो तो माथा ठोक लोगे, किन्तु यदि जान लोगे कि यह चैक या नोट सही नहीं है तो क्या करोगे ? नहीं लोगे न ? किन्तु इसका उल्टा भी होता है। आपको एक घटना सुनाता हूँ।

अहमदाबाद के एक सेठ के यहाँ एक ऐसी ही हुँडी आ गई। मुनीमों ने खाते-बही टटोले कि इस नाम से तो कोई लेन-देन नहीं है। वह हुँडी घूमकर वापस सेठ के पास आ गई। सेठ ने कहा- मुनीमजी डेढ़ लाख रुपये दे दीजिये। यह उस जमाने की बात है। आज के डेढ़ लाख तो कोई मायने नहीं रखते, पर उस समय के डेढ़ लाख मायने रखते थे। मुनीम ने कहा- लेकिन....। सेठजी ने कहा- मैंने कह दिया भुगतान कर दीजिये। मुनीमों ने पुनः सावधान किया- लेकिन उनका खाता नहीं है। सेठजी ने उत्तर दिया- खर्च खाते लिखकर भुगतान कर दीजिये। भुगतान कर दिया गया। वर्षों बाद वही सेठ अहमदाबाद पहुँचा। साथ में बैलगाड़ियों में धन - भरकर ले गया था और सेठ से कहा कि इतने वर्ष पूर्व एक ऐसी हुँडी आपके पास थी, उसका कोई लेन-देन नहीं था, किन्तु आपने उसका भुगतान किया था। मुनीम पुनः खाते टटोलने लगे कि उस नाम पर तो कोई पैसा बाकी था ही नहीं, लेकिन उसने कहा- आपने मेरी हुँडी स्वीकार की थी। हुआ यों था कि एक समय था जब उस सेठ की बहुत

चलती थी, करोड़ों का व्यापार चलता था। लेकिन जैसे करोड़पति को रोड़पति और रोड़पति को करोड़पति बनते देर नहीं लगती, कहाँ वे पांडव सम्राट् थे, किन्तु एक रात में पासा पलट गया और उन्हें वनवास के लिये बढना पड़ गया। उस सेठ की भी स्थितियाँ बदली थीं।

घटना यह थी। एक राजपूत के डेढ़ लाख रुपये एक सेठ के पास थे। वह आकर खड़ा हो गया- ''सेठ, तू मेरे पैसे खा नहीं पाएगा। सेठ, तुझे मेरे रुपये देने ही पड़ेंगे। तब सेठ ने कहा- मैं तुझे अहमदावाद की अमुक पेठी पर हुँडी लिख सकता हूँ। राजपूत ने कहा- कोई बात नहीं, मुझे तो पैसे चाहिये। सेठ ने डेढ लाख की हुँडी काट दी और वह वहाँ पहुँच गई। सेठ ने कहा- मैंने किसी की हुँडी का भुगतान नहीं किया है। मैंने तो केवल 'दो मोती' खरीदे हैं। हुआ यह था कि जब हुँडी लिखी जा रही थी तब सेठ के दो आंसू के बिन्दु हुण्डी पर टपके थे। और जब मुनीम के हाथों से वह सेठ के पास पहुँची तो सेठ ने कहा- यह सामान्य हुँडी नहीं है। यह बहुत बड़े सेठ की इज्जत है, यह हुँडी लौटेगी नहीं। इसलिए उन्होंने कहा था- खर्च खाते लिखकर भुगतान कर दो। था न कलेजा सवा हाथ का ? आज स्थिति यह है कि करोड़ों से खेल करने की स्थिति हो तो अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी करने को तत्पर हो जायेंगे, किन्तु कोई दुखी हो, उसके लिए तत्परता नहीं बन पाती है। यदि कोई प्रतिद्वंद्वी आपदा में फँसा है तो देव के सामने जाकर मनौती करेंगे कि मैं मावे की बर्फी चढ़ाऊँगा, यदि वह नीचे आ जाये। ऐसी मनौती करने से वह नीचे आये या न आये पर आप जरूर नीचे आ जाएँगे।

जब हिरोशिमा पर बम विस्फोट किये गये थे, तब एक व्यक्ति ने अमेरिका के राष्ट्रपति से जाकर पूछा था कि आपको कैसा लग रहा है ? तब उन्होंने कहा था- आज मैं आनंद की नींद सोऊंगा। ऐसी स्थिति में मानवता जिन्दा रह पाएगी क्या ?

मानवता की भव्य भूमि
पर बोल गये भगवान
मानव-मानव एक समान॥

विचार कीजिये कि यह हमारा केवल उच्चारण हो रहा है या ऐसा हमारा विचार भी है ! यह बात हम बड़ी सुरीली आवाज में बोल तो देगें, पर यह बात कहाँ तक सच है ? मुँह तक है या गले तक या हृदय तक भी पहुँची है ?

बन्धुओं ! पर्युषण पर्व की आराधना सहज बात नहीं है। मुँहपत्ती लगाकर सामायिक कर लेंगे, पर अंदर घाव भरे पड़े हैं। हमारा यदि घर के सदस्यों और नौकरों-चाकरों के साथ दुर्व्यवहार है तो सामायिक बन नहीं पाएगी, फलीभूत नहीं होगी। सुनी होगी आपने पूर्णिया श्रावक की कथा, जिसकी पत्नी बिना पूछे छाणा ले आई थी तो क्या सामायिक हो पाई थी ? मुँहपत्ती बांधकर बैठा जरूर, पर क्या मन में सामायिक हो पाई ? नहीं। तो क्या हमारी हो पायेगी ?

ये पर्व शिरोमणि आये हैं, जागिये । आप कहेंगे- हम सोये हुए कहाँ हैं ? हम तो जगे हुए हैं। बहुत अच्छी बात है। पर अन्दर झाँककर देखें, हमारा चेतन सोया हुआ है या जगा हुआ है ? यदि वह सोया हुआ है तो शैतान जागते रहेंगे। इन शैतानों को कब तक पालेंगे ? शैतान हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर। इन्हें पाल-पालकर सोचें कि हम तो बहुत अच्छा कर रहे हैं, तो यह गलत होगा। आपको मालूम होगा कि आतंकवाद का प्रादुर्भाव कैसे हुआ। स्वर्णमन्दिर परिसर में जो स्थिति बनी वह क्यों बनी ? यदि भिण्डरावाला को पाला नहीं गया होता तो यह दशा नहीं बनती। हम भी क्रोध, मांनादि शैतानों को पालते हैं और फिर इनके लिए बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। हमारी एक जिन्दगी से उनकी कीमत नहीं चुकेगी; अनेक जिन्दगियों से कीमत चुकानी पड़ेगी। कुछ लोग ऐसा मानकर चलते हैं कि संतों की शरण में चले जायेंगे तो कल्याण हो जायेगा। पर ध्यान रखिये, जिसका अतंर शुद्ध नहीं, निर्मल नहीं, सरल नहीं, उसका कल्याण हो नहीं पाएगा, चाहे वह किसी भी संत की शरण में चला जाये। और तो क्या, भगवान महावीर की शरण में आने वाली आत्मा भी कुछ कर नहीं पाई। संगम भी शरण में आया था, हो गया उसका कल्याण क्या ? उसे सत्पथ भी नहीं मिल पाया, चाहे कितने भी जन्म बीते। पर्युषण पर्व आये हैं तो हम अंतर की धुलाई करें। अंतर की

चलती थी, करोड़ों का व्यापार चलता था। लेकिन जैसे करोड़पति को रोड़पति और रोड़पति को करोड़पति बनते देर नहीं लगती, कहाँ वे पांडव सम्राट् थे, किन्तु एक रात में पासा पलट गया और उन्हें वनवास के लिये बढना पड़ गया। उस सेठ की भी स्थितियाँ बदली थीं।

घटना यह थी। एक राजपूत के डेढ़ लाख रुपये एक सेठ के पास थे। वह आकर खड़ा हो गया- ''सेठ, तू मेरे पैसे खा नहीं पाएगा। सेठ, तुझे मेरे रुपये देने ही पड़ेंगे। तब सेठ ने कहा- मैं तुझे अहमदावाद की अमुक पेठी पर हुँडी लिख सकता हूँ। राजपूत ने कहा- कोई बात नहीं, मुझे तो पैसे चाहिये। सेठ ने डेढ लाख की हुँडी काट दी और वह वहाँ पहुँच गई। सेठ ने कहा- मैंने किसी की हुँडी का भुगतान नहीं किया है। मैंने तो केवल 'दो मोती' खरीदे हैं। हुआ यह था कि जव हुँडी लिखी जा रही थी तब सेठ के दो आंसू के बिन्दु हुण्डी पर टपके थे। और जब मुनीम के हाथों से वह सेठ के पास पहुँची तो सेठ ने कहा- यह सामान्य हुँडी नहीं है। यह बहुत बड़े सेठ की इज्जत है, यह हुँडी लौटेगी नहीं। इसलिए उन्होंने कहा था- खर्च खाते लिखकर भुगतान कर दो। था न कलेजा सवा हाथ का ? आज स्थिति यह है कि करोड़ों से खेल करने की स्थिति हो तो अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी करने को तत्पर हो जायेंगे, किन्तु कोई दुखी हो, उसके लिए तत्परता नहीं बन पाती है। यदि कोई प्रतिद्वंद्वी आपदा में फँसा है तो देव के सामने जाकर मनौती करेंगे कि मैं मावे की बर्फी चढ़ाऊँगा, यदि वह नीचे आ जाये। ऐसी मनौती करने से वह नीचे आये या न आये पर आप जरूर नीचे आ जाएँगे।

जब हिरोशिमा पर बम विस्फोट किये गये थे, तब एक व्यक्ति ने अमेरिका के राष्ट्रपति से जाकर पूछा था कि आपको कैसा लग रहा है ? तब उन्होंने कहा था- आज मैं आनंद की नींद सोऊंगा। ऐसी स्थिति में मानवता जिन्दा रह पाएगी क्या ?

मानवता की भव्य भूमि
पर बोल गये भगवान
मानव-मानव एक समान।।

विचार कीजिये कि यह हमारा केवल उच्चारण हो रहा है या ऐसा हमारा विचार भी है ! यह बात हम बड़ी सुरीली आवाज में बोल तो देगें, पर यह बात कहाँ तक सच है ? मुँह तक है या गले तक या हृदय तक भी पहुँची है ?

बन्धुओं ! पर्युषण पर्व की आराधना सहज बात नहीं है। मुँहपत्ती लगाकर सामायिक कर लेंगे, पर अंदर घाव भरे पड़े हैं। हमारा यदि घर के सदस्यों और नौकरों-चाकरों के साथ दुर्व्यवहार है तो सामायिक बन नहीं पाएगी, फलीभूत नहीं होगी। सुनी होगी आपने पूर्णिया श्रावक की कथा, जिसकी पत्नी बिना पूछे छाणा ले आई थी तो क्या सामायिक हो पाई थी ? मुँहपत्ती बांधकर बैठा जरूर, पर क्या मन में सामायिक हो पाई ? नहीं। तो क्या हमारी हो पायेगी ?

ये पर्व शिरोमणि आये हैं, जागिये । आप कहेंगे- हम सोये हुए कहाँ हैं ? हम तो जगे हुए हैं। बहुत अच्छी बात है। पर अन्दर झाँककर देखें, हमारा चेतन सोया हुआ है या जगा हुआ है ? यदि वह सोया हुआ है तो शैतान जागते रहेंगे। इन शैतानों को कब तक पालेंगे ? शैतान हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर। इन्हें पाल-पालकर सोचें कि हम तो बहुत अच्छा कर रहे हैं, तो यह गलत होगा। आपको मालूम होगा कि आतंकवाद का प्रादुर्भाव कैसे हुआ। स्वर्णमन्दिर परिसर में जो स्थिति बनी वह क्यों बनी ? यदि भिण्डरावाला को पाला नहीं गया होता तो यह दशा नहीं बनती। हम भी क्रोध, मांनादि शैतानों को पालते हैं और फिर इनके लिए बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। हमारी एक जिन्दगी से उनकी कीमत नहीं चुकेगी; अनेक जिन्दगियों से कीमत चुकानी पड़ेगी। कुछ लोग ऐसा मानकर चलते हैं कि संतों की शरण में चले जायेंगे तो कल्याण हो जायेगा। पर ध्यान रखिये, जिसका अतंर शुद्ध नहीं, निर्मल नहीं, सरल नहीं, उसका कल्याण हो नहीं पाएगा, चाहे वह किसी भी संत की शरण में चला जाये। और तो क्या, भगवान महावीर की शरण में आने वाली आत्मा भी कुछ कर नहीं पाई। संगम भी शरण में आया था, हो गया उसका कल्याण क्या ? उसे सत्पथ भी नहीं मिल पाया, चाहे कितने भी जन्म बीते। पर्युषण पर्व आये हैं तो हम अंतर की धुलाई करें। अंतर की

धुलाई नहीं की तो स्वयं की पहचान नहीं कर पाएंगे। ऊपर-ऊपर की भ्रामक पहचान कर ही रह जाएंगे, जैसे उस चित्रकार ने मुखौटे दिखाये थे। मैं चाहता हूँ कि आपकी ऐसी फोटो लूं जिसमें यथार्थ उजागर हो जाये। उस पर लीपा-पोती का प्रयत्न न हो। यदि नीचे कचरा पड़ा है और कोई चाहे कि ऊपर गोबर से लिपाई कर स्वच्छ कर दूं, तो लिपाई हो नहीं पाएगी। पहले उसकी सफाई करनी होगी !

बन्धुओं ! पर्युषण पर्व के माध्यम से हम स्वयं की पहचान करें। गौतम राजकुमार ने अपनी पहचान की, घर पर आकर सबकुछ त्याग दिया और भगवान अरिष्टनेमि के पास पहुँचकर साधु जीवन स्वीकार कर लिया। फिर साधना करते हुए कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर एवं सभी दु:खों को नष्ट कर परिनिवृत्त हो गये। हम भी अपने आन्तरिक भावों को शुद्ध करके जीवन को भव्य बनाने का प्रयत्न करें, जिससे मुखौटे लगाने की आवश्यकता ही समाप्त हो जाये। पर्युषण पर्व का यही संदेश है, हम इसे अपने जीवन में उतारें।

26.08.2000

❖ ❖ ❖
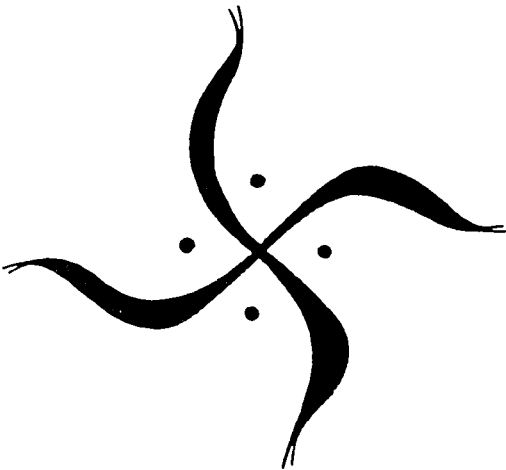
3. मन की गाँठें खोल

भगवान महावीर ने जीव का लक्षण बताते हुए कहा है-

णाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्य लक्खणं॥

(उत्तराध्ययन सूत्र 28/11)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण हैं। ज्ञान के द्वारा व्यक्ति अपनी पहचान कर पाता है और दर्शन के द्वारा आत्म-अनुशासन की अवस्था प्राप्त होती है। इस आत्म-अनुशासन को ही हम सम्यक्दर्शन कह सकते हैं। आप कहेंगे अनुशासन तो मिथ्यात्वी व्यक्ति में भी पाया जाता है। यह ठीक है, उसमें अनुशासन हो सकता है, किन्तु आत्म-अनुशासन तो सम्यक्त्व की अवस्था के साथ ही घटित होता है। भगवान महावीर के चरणों में जो आत्माएँ पहुँचीं, उन्होंने प्रभु महावीर से निवेदन किया- "भगवन ! हमने निर्ग्रन्थ प्रवचन सुना है। निर्ग्रन्थ प्रवचन का तात्पर्य है तीर्थंकर देवों की वाणी अर्थात् उन देवों की वाणी, जिनमें कोई ग्रंथि नहीं रह गई थी। न राग की ग्रंथि, न द्वेष की ग्रंथि। मूल ग्रंथियाँ दो ही हैं- राग और द्वेष की ग्रंथियाँ। अवान्तर ग्रंथियाँ हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, डाह, भय, शोक आदि। ऐसी अनेक ग्रंथियाँ निर्मित हो जाती हैं। यदि मूल ग्रंथियाँ बनी रहती हैं तो दूसरी ग्रंथियों को भी बने रहने का अवसर मिल जाता है, परन्तु यदि मूल ग्रंथियाँ समाप्त हो जायें तो दूसरी ग्रंथियाँ भी लंबे समय तक रह नहीं पाती। जो इन ग्रंथियों से रहित है, उन्हें निर्ग्रन्थ कहा गया है।

संत-मुनिराज को भी निर्ग्रन्थ कहा जाता है, किन्तु यथार्थ में विना वीतरागता के निर्ग्रन्थता घटित नहीं हो पाती। जब तक संज्वलन रूप कषाय भी मौजूद है तब तक पूर्णतया निर्ग्रन्थता घटित नहीं हो सकती क्योंकि अल्प रूप में ही सही, कषाय मौजूद रहता है। जैसे बाहुबलीजी

में अल्प कषाय रहते पूर्ण निर्ग्रन्थता घटित नहीं हुई। उन्होंने सोचा मैं पहले केवलज्ञान प्राप्त कर लूँ फिर प्रभु के पास जाऊँगा ताकि छोटे भाईयों को वंदन नहीं करना होगा और इतनी-सी ग्रंथि केवलज्ञान-केवलदर्शन को रोकने वाली बनी। अनुत्तर ज्ञान की अवरोधक बनी। जब तक छोटी-सी भी ग्रंथि पड़ी है तब तक पूर्णतया निर्ग्रन्थपणा वहाँ घटित नहीं हो पाएगा। तीर्थंकर देव सर्वात्मना अर्थात् पूर्णतया निर्ग्रन्थ होते हैं। किसी भी प्रकार की ग्रंथि नहीं, कोई लाग-लपेट नहीं, कोई भाई-भतीजावाद नहीं। यह भी नहीं कि यह मेरा अनुयायी है, तो इसे ऐसा कैसे कहा जाये ?

जब मगध सम्राट् श्रेणिक ने पूछा कि भगवन ! मैं मरकर कहाँ जाऊँगा ? तब इतने बड़े सम्राट् को अपना भक्त बनाये रखना है, ऐसा सोचकर भगवान ने उत्तर को घुमाया नहीं, बल्कि स्पष्ट कहा - राजन् ! तू सातवीं नरक के दलिक इकट्ठे कर चुका था, पर वदंना करने से छः नारकी के दलिक तो समाप्त कर चुका है, अब एक नारकी के दलिक बाकी हैं। इसलिए तू पहली नरक में उत्पन्न होगा।

सम्राट् कोणिक भी तीर्थंकर देव की भक्ति में तल्लीन था। उसने अनेक व्यक्तियों को केवल इसलिए नियुक्त कर रखा था कि वे भगवान महावीर के समाचार उस तक पहुँचाते रहें कि भगवान कब किस नगर में विराज रहे है; किधर उनका विहार हुआ है ? ऐसे सुख-साता के समाचार पाने के लिये उसने अनेकानेक व्यक्तियों को नियुक्त कर रखा था। उसने भी पूछा- भगवन्, मैं काल करके कहाँ जाऊँगा ? तो भगवान ने कहा- छठी नरक में। उन्होंने यह सोचकर कहीं कोई लाग-लपेट नहीं रखी कि यह मेरी भक्ति करने वाला है, इसलिए यह खुश हो, ऐसी बात कहूँ। यह है वीतरागता एवं निर्ग्रन्थता की पूर्णता की अवस्था। इसलिए तीर्थंकर देवों की सभा में जो श्रोता उपस्थित होते, तो उपदेश सुनकर उनके मुँह से सहज ही ये शब्द निकलते कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है, निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सार हैं; निर्ग्रन्थ प्रवचन के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह आत्मकल्याण में सहायक नहीं है। ऐसे निर्ग्रन्थ प्रवचन को सुनकर उपस्थित श्रोता कहते- हम इस प्रवचन पर श्रद्धा करते हैं, प्रतीति करते। आगार धर्म छोड़कर आपके अणगार धर्म धारण करना चाहते हैं और कई

ऐसे भी होते थे जो कहते थे- भगवन् ! बहुत-से राजा, सार्थवाह, गाथापति आपके चरणों में मुंडित होकर आगार धर्म से अणगार धर्म स्वीकार करते हैं, किन्तु मुझ में अभी इतना सामर्थ्य नहीं है कि मैं अणगार धर्म को स्वीकार कर सकूँ। इसलिए मैं आपके श्रीमुख से पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत-रूप बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म, श्रावक धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ। उनकी विनय सुनकर प्रभु महावीर उत्तर देते- अहासुहं, देवाणुप्पिया, मा पडिबंध करेह। 'अहासुह', यह बात क्यों कही जाती है, इसके पीछे बड़ा गहरा विज्ञान है।

तीर्थंकर देवों का एक-एक शब्द, एक-एक पद अपना महत्त्व रखता है। रथ्यापुरुष की तरह उनका शब्द नहीं है। रथ्यापुरुष का तात्पर्य है- सड़क पर चलने वाला पुरुष। सड़क पर तो बहुत-से व्यक्ति चलते हैं, तीर्थंकर और संत भी चलते हैं, पर यहाँ तात्पर्य है 'सड़क छाप'। जो न आगे की सोचता है, न पीछे की। जैसा मन में आया वैसा मुँह से बोलता है। ऐसे पुरुष के कथन को रथ्यापुरुष का कथन कहा है। वह प्रामाणिक नहीं होता, ग्राह्य नहीं होता। यदि वह बहुत अच्छी बात भी कह रहा है तब भी अच्छी होते हुए भी वह ग्राह्य नहीं होती। वह प्रामाणिक नहीं होती। क्योंकि वह स्वयं उसके मर्म से अनभिज्ञ होता है।

तीर्थंकर देवों की वाणी, उनका एक-एक शब्द, उनकी देशना अपने-आप में प्रामाणिक होती है। चाहे उनके द्वारा साधारण शब्द भी कहा गया हो, तथापि उसके पीछे भी गहरा रहस्य छिपा होता है, आत्मा की अनुभूति होती है। उसी अनुभूति के आधार पर जब 'अहासुहं देवाणुप्पिया' उद्गार निकलता है, तब वह आत्म-अनुशासन का द्योतन करने वाला होता है। उसका अभिप्राय होता है कि तुम आत्म-अनुशासन में स्थित हो, अपना निर्णय तुम स्वयं कर सकते हो। जहाँ इस प्रकार की अवस्था में किसी प्रकार की न्यूनता होती थी, वहाँ प्रभु महावीर मौन साध लेते थे। जमाली से संबंधित प्रकरण इसका प्रमाण है। जमाली प्रभु महावीर का संसारपक्षीय जामाता था, जो अब मुनि बन चुका था। उसने एक बार भगवान के चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया- "भगवन ! आपकी आज्ञा हो तो मैं 500 शिष्यों को लेकर स्वतंत्र विचरण करना

चाहता हूँ।'' प्रभु महावीर ने उस समय मौन धारण कर लिया क्योंकि वे देख रहे थे कि आत्म-अनुशासन की नींव हिलने वाली थी और वैसा ही हुआ। जमाली शंकाग्रस्त हो मिथ्यात्व का वेदन करने लगा।

बन्धुओं ! संसार के व्यवहार में भी अनुशासन की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। कभी हम सोच लें कि धर्म हमें स्वतंत्रता की राह पर ले जाने वाला है, फिर वहाँ अनुशासन की आवश्यकता क्यों पड़ गई ? यहाँ आत्म-अनुशासन को बहुत महत्त्व दिया गया है क्योंकि जहाँ आत्म-अनुशासन नहीं है तो वहाँ का शासन आपको केन्द्रित करने वाला होता है। आप स्वयं अनुभव करते हैं कि जब प्रवचन पूर्ण होता है और आप चाहते हैं कि संतों का चरण-स्पर्श कर लें तब संतों की तो कोई कामना नहीं होती कि इतने-इतने व्यक्ति चरण-स्पर्श करें, पर आपकी भावना होती है। इसलिए संत बैठे रह जाते हैं और जब कई भाई एक साथ पहुँचने की कोशिश करते हैं तो स्वयंसेवकों को रोकना पड़ता है। यदि पहले ही आत्म-अनुशासन की अवस्था रहे तो किसी भी स्वयंसेवक को खड़े रहने की आवश्यकता नहीं हो।

अनुशासन की आवश्यकता हर क्षेत्र में रहती है, भले ही वह धार्मिक क्षेत्र हो। अनुशासन-विहीन व्यवस्था हो तो धर्मक्रिया बन नहीं पाएगी। अनेक तरह के अनुशासन तीर्थंकर देवों ने बताये हैं। अकेले साधु का कल्प नहीं है। साध्वी विचरण करे तो कम से कम कितनी होनी चाहिये, इसका भी प्रावधान किया गया है। कम से कम तीन साध्वियाँ होनी चाहिए। यदि उनका 3 का सिंघाड़ा है और उनमें से एक कालधर्म को प्राप्त हो जाये और पीछे दो रह जायें तो किसी एक विश्वस्त बहिन के साथ निकटवर्ती क्षेत्र में, जहाँ साध्वियाँ विचरण करती हैं, उनके समीप पधार जाना चाहिए। वे एक या दो रात से अधिक बीच में रुकें नहीं, यह कल्पमर्यादा भी तीर्थंकर देवों ने बताई है, यह भी एक अनुशासन है। ऐसी एक नहीं, अनेक मर्यादाएँ संत जीवन में होती हैं।

देवकी महारानी के छः पुत्र, जो सुलसा के घर पले थे, वे दो-दो के सिंघाड़ेपूर्वक आहार के लिए परिभ्रमण करते हुए देवकी के घर में

पहुँच गये। देवकी महारानी के मन में एक विकल्प जागृत हो गया- क्या कारण है, ये मुनि पुनः-पुनः मेरे ही घर में प्रवेश कर रहे हैं ? यह मेरा सौभाग्य है कि मेरे घर में संत पधार रहे हैं। उसने तीनों बार भिक्षा बहराई, पर तीसरी बार विचार किया कि मन की शंका को, मन की ग्रंथि को खोल लेना चाहिए। यदि इस ग्रंथि, मन की शंका को दूर नहीं किया गया तो उचित नहीं होगा। नीतिकार भी कहते हैं-

"संशयात्मा विनश्यति !"

यहाँ विनाश का अर्थ क्या है ? क्या आत्मा समाप्त हो जाती है ? एक तरफ कहा है- आत्मा शाश्वत होती है, विनष्ट नहीं हो सकती और दूसरी तरफ कहा जा रहा है- "संशयात्मा विनश्यति।" यहाँ विनाश का अर्थ है वह अपने आत्मगुणों को समाप्त करने वाली होती है। उसके भीतर जो ज्ञान-दर्शन आदि गुण रहे हुए हैं, जिंनके माध्यम से उसके मौलिक स्वरूप की पहचान हो सकती है, वे गुण तिरोहित होते हैं। जब वह पहचान की क्षमता ही विनष्ट हो जाये कि मैं जीव हूँ या क्या हूँ तो उस आत्मा के होने, न होने से क्या फर्क पड़ता है ! इसलिए देवकी महारानी ने विचार किया कि मुझे संशय नहीं रखना चाहिये। उसने पूछ लिया संतों से- "क्या कृष्ण वासुदेव के राज्य में लोगों में धर्म की श्रद्धा लुप्त हो गई है, जिसके कारण आपको पुनः-पुनः तीसरी बार एक ही घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करना पड़ा ?" इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि साधु को एक ही घर में पुनः-पुनः भिक्षार्थ प्रवेश नहीं करना चाहिये। इसके पीछे कई कारण हैं। व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो पुनः-पुनः प्रवेश से गृहपति के मन में शंका व्याप्त होगी कि क्या कारण है कि मेरे घर में बार-बार प्रवेश कर रहे हैं ? और यदि कभी मोह भावना जग जाये तो वह भी ठीक नहीं।

एक मुनिराज किसी गृहस्थ के घर में भिक्षा ले रहे हैं, वहिन भी भावना से बहरा रही है। मुनि के मन में उतार-चढ़ाव आ गया। बहिन धार्मिक जीवन से ओत-प्रोत थी, पूछ लिया- क्या वात है ? मुनि ने भी सरल भाव से स्वीकार कर लिया और कहा कि मेरे मन में कुछ

पूर्व की स्मृति जागृत हो गई। मैं सोचने लगा कि मैं जिस धर्मपत्नी का त्याग करके आया हूँ, उसके व तुम्हारे हाव-भाव लगभग एक समान हैं, इसलिए तुम्हें देखकर मुझे अपनी धर्मपत्नी का स्मरण हो आया। मैं उसी स्मृति में खो गया था। देखिये- संत-जीवन है, किन्तु फिर भी यह स्थिति बन जाती है और उसी संत की बनी हो, ऐसी बात नहीं है। चरमशरीरी आत्मा रथनेमि ने महासती राजमती को देखा और उसे आमंत्रित करने लगे- हे सुभगे ! यह मनुष्य-तन मिला है, पहले भुक्तभोगी हो जायें, संसार के कामभोग भोगकर फिर साधु बन जाएँगे। कर्मों का उदय किस-किस प्रकार से आता है, यह देखिये। उत्कृष्ट वैराग्य से साधु बनते हैं, पर एक समय ऐसा आता है जब भोगावली कर्म का उदय होता है तो वे भोग-याचक बन जाते हैं। ऐसी घटनाएँ होती हैं, इसलिए साधु को पुनः-पुनः गृहस्थ के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिये और इसी कारण एक स्थान पर अधिक समय तक रुकना भी नहीं चाहिये। इसीलिये मर्यादा बनाई गई है कि चातुर्मास के अलावा साधु को 29 रात्रि से अधिक एक स्थान पर नहीं रुकना चाहिये, क्योंकि अधिक रुके तो मोह बन सकता है। कहा भी है- ''नेहपाशा भयंकरा''- स्नेह का पाश - बन्धन भयंकर होता है, आत्मा एक बार उसमें बंध जाए तो न जाने कितने भवों में आत्मा को भटकना पड़े। इस पाश में न बंधें।

देवकी महारानी के मन में प्रश्न उठा, उसने विचार किया कि मुझे समाधान कर लेना चाहिये। मुनि समझ गये कि आज तीनों सिंघाड़े यहाँ पहुँच गये हैं। वे मुनि समाधान करते हैं कि जो पहले आये थे, वह हम नहीं हैं। हम दूसरे हैं। जो पहले आये थे, वे दूसरे थे। हम छहों भाई हैं। नाग गाथापति की भार्या सुलसा हमारी माता है। हम दो-दो के सिंघाड़े से भिक्षा के लिए निकले थे। संयोग ऐसा बना कि तीनों तुम्हारे घर पहुँच गए। महारानी का समाधान हो गया। इससे ज्यादा समाधान या लम्बी-चौड़ी चर्चा वहाँ नहीं की गई और जो पूछा गया उसका संक्षिप्त उत्तर दे दिया गया। गृहस्थ के घर समाधान देने की स्थिति बने तो वहाँ संक्षिप्त समाधान दिया जा सकता है। इससे अधिक चर्चा वहाँ नहीं होनी चाहिये। यदि अधिक चर्चा करनी है, तो जहाँ संत विराजे हैं, वहाँ पहुँचकर समाधान

लिया जा सकता है, पर हर समय, हर स्थान पर नहीं। देवकी का समाधान हो गया था।

बंधुओ ! आज यदि संत कभी भूल से पहुँच जायें और पहले दिन भिक्षा की हुई हो और पहुँच गये हों या दूसरे संत पहुँच गये तो वे सोचते हैं कि हमें अवसर मिला है, इसलिए दान देने की स्थिति में आ जाते हैं। यदि संत पूछ लें तो कई तो कह देते हैं कि फरसा हुआ है, लेकिन कई कह देते हैं- याद नहीं है, शायद कल तो नहीं आये होंगे। लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिये। स्पष्ट बात कहने वाला धर्म के नियमों का पालन करवाने वाला होता है। धर्म-नियमों के पालन में साधु-साध्वी तो एक-दूसरे के सहयोगी होते ही हैं, वैसे ही श्रावक भी सहयोगी बन सकते हैं। पर आज के युग में क्या चाहते हैं- संत की मर्यादा रहे या न रहे ? वे चाहते हैं- महाराज युग बदल रहा है यदि आप नहीं बदलेंगे तो धर्म का प्रचार नहीं कर पाएंगे। समझ नहीं आ रहा है कि हम धर्म को किस रूप में समझ रहे हैं। क्या धर्म कपड़ों के रूप में है ? जैसे आप कपड़े बदलते हैं वैसे ही क्या धर्म में भी परिवर्तन होना चाहिए ? यदि होता है तो हम अपनी मूल संस्कृति को खो बैठेंगे। मूल को छोड़कर आप पत्र, फूल, टहनियों को कितना भी सिंचन दें, कुछ प्राप्त नहीं होना है। प्रचार के युग में धर्म को परिवर्तित कर दिया तो आने वाले समय में आप अपनी संतानों को साधु-जीवन का स्वरूप नहीं बता पाओगे। यदि शास्त्रों के आधार पर कोई बताएंगे भी तो आने वाली पीढ़ी कहेगी-"क्या इस प्रकार का कोई आचरण कर सकता है ? यदि कर सकता है तो एक भी साधु बता दीजिये, हम मान लेगें कि ऐसा हो सकता है।" तब आप क्या कहेंगे ? आप कहेगें- भाई ! साधु-जीवन है तो ऐसा ही, पर प्रचार की हवा ने उन सबको परिवर्तित कर दिया है। इसीलिए आज तो ऐसा साधु नहीं है। बच्चों को विश्वास नहीं होगा, वे कहेंगे- आपकी बातें सच्ची नहीं हैं, ये गप्पें है, यथार्थ नहीं।

सेठ तोलारामजी भूरा ट्रेन से यात्रा करके आचार्यदेव श्री नानेश के दर्शन करने छत्तीसगढ़ जा रहे थे। ट्रेन में कई ऐसे भाईयों से संपर्क हुआ जो जैन मुनियों के बारे में नहीं जानते थे। परस्पर वार्त्ता चली कि

आप कहाँ जा रहे हैं ? तो उन्होंने कहा- मैं अपने धर्मगुरु के दर्शन करने जा रहा हूँ। उन व्यक्तियों ने पूछा- वे कैसे हैं ? कैसा है उनका स्वरूप ? वे शास्त्रों के जानकार भी थे, उसी के आधार पर उन्होंने साधु-जीवन की चर्या बतलाई। पाँच महाव्रतों का संक्षिप्त स्वरूप बताया। इस पर वे श्रोता कहने लगे- क्या इस प्रकार का आचरण करने वाला मानव हो सकता है ? और ऐसी अवस्थाओं का आचरण करने वाले क्या जिन्दा रह सकते हैं ? तोलारामजी ने कहा- जिन्दा हैं, तभी तो दर्शन करने जा रहा हूँ। और आज यदि आपसे पूछ लिया जाये कि आप धर्मगुरु के दर्शन करने जा रहे हैं तो बताइये उनका स्वरूप क्या है। तो आप बगलें झांकने लगेंगे। खेद की बात है कि हमें मूल परम्परा का भी पता नहीं है। आपको ज्ञात नहीं साधु की मर्यादा। आपको पता नहीं कि आचार क्या है ? और यदि कोई आचार का पालन करे तो वहाँ छींटाकशी करेंगे। नुक्ताचीनी करेंगे और कहेंगे कि ये नये-नये कानून कब से चालू हो गये ? लेकिन ऐसे लोग कानून पढ़ते कब हैं ? पढ़ें तो जानें। मेरे ख्याल से बहुत कम व्यक्ति होंगे जो भारत के कानून को जानते होंगे। चिन्तन करने की बात है कि भारत में रहने वाले इतने कम व्यक्ति ही भारत के कानून को जानते हैं। इन छोटे-छोटे नियमों की और बहुत-से कानूनों की जानकारी तो हमें नहीं होती, किन्तु हम जिस देश में, धर्म-संस्कृति में जीते हैं, उसका ज्ञान तो हमें होना ही चाहिये।

साधुओं को आप वंदन-नमस्कार करते हैं। कई लोग माता-पिता के चरणों में भी माथा नहीं झुकाते, वे भी धर्मगुरुओं को माथा झुकाते हैं। परन्तु यदि रीति-नियमों का ज्ञान नहीं, वंदन किसको करना यह भी ज्ञान नहीं और सिर झुकाते रहें तो कुछ प्राप्त नहीं कर पाएंगे। निशीथ भाष्य में स्पष्ट कहा है कि जो पासत्था, कुशीला, स्वच्छंदी है, ऐसे को यदि कोई वंदन-नमस्कार करता है तो वह आत्मशुद्धि करने वाला नहीं है। प्रश्न पूछ लिया- कोई बात नहीं, आत्मशुद्धि नहीं होगी, किन्तु पुण्यबंध तो हो जायेगा तो प्रत्युत्तर मिला- उसके कायक्लेश होगा। प्रतिप्रश्न हुआ- "कोई बात नहीं संसार के बहुत-से कार्यों में कायक्लेश होता है। इसलिए व्यवहार तो रह जाएगा और तो कोई नुकसान नहीं है ? तो

कहा गया- पुण्यबंध का लाभ तो नहीं, किन्तु नुकसान यह होता है कि उन साधुओं की भावनाओं को बढ़ोतरी मिलती है और ऐसे साधुओं को वंदन किया तो प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार लाभ तो कोई नहीं होता, वरन् नुकसान होता है। यथाप्रसंग पार्श्वस्थ आदि के स्वरूप को भी स्पष्ट कर देता हूँ। पार्श्वस्थ अर्थात् जिसने त्याग-नियम-मर्यादा को वस्त्र की तरह उतारकर पार्श्व में, किनारे, रख दिया हैं, जो पोशाक पहनकर तो चल रहा है, पर उसके जीवन में त्याग- नियम-मर्यादा नहीं है, जो स्वंच्छदी है अर्थात् जो तीर्थंकर देवों के शास्त्रों के आधार पर साधु-जीवन स्वीकार तो करता है, किन्तु कालान्तर में शास्त्रों की बातों से असहमति भी प्रकट करने लगता है। कहता है- वह युग और था, आज के युग में इनमें अटके रहें तो समाज पिछड़ जायेगा; और जो आकाश में उड़ानें भरने, गाड़ियों में चलने को तैयार हो जाएंगें; मनमाने नियम बनायेंगे, ऐसे साधुओं को स्वच्छंदी कहा है। ऐसों को वंदन-नमन किया तो वह वंदन संसार में भटकाने वाला होगा। संसार को सीमित करने वाला नहीं। इस प्रकार जो वंदन संसार को सीमित करने वाला होना चाहिये वही संसार को बढ़ाने वाला बन सकता है। इसलिए जिन्हें वंदन-नमन करना है, उनके स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए।

देवकी महारानी ने मुनियों से प्रश्न पूछ लिया और मुनियों ने भी उसे गलत नहीं समझा। देवकी ने भी ऐसी गलती नहीं की कि मुनियों से न पूछकर घर-घर में पूछती फिरती कि क्या मुनि एक घर में बार-बार आ सकते हैं ? मेरे घर तो तीन बार आये थे। किन्तु उसने ऐसा नहीं करके मुनि से ही पूछ लिया। परिणामस्वरूप उसका समाधान हो गया। यह बात अलग है कि फिर कोई नई जिज्ञासा पैदा हो गई कि अतिमुक्त मुनि ने मुझे कहा था कि भरत क्षेत्र में तुम्हीं ऐसी माता बनोगी जो नलकुबेर के समान 8-8 राजकुमारों को जन्म दोगी। पर मैं यह अंतर स्पष्ट देख रही हूँ। एक ही माता के छः पुत्र हैं। ऐसा कैसे हुआ ? क्योंकि कहा है-

जो भाखे वर कामणी, जो भाखे मुनिराज।

शीलवती नारी, जिसका जीवन संयमित है, वह यदि कोई शब्द मुँह से निकाले तो वे अन्यथा नहीं होते। इसी प्रकार मुनिराज जो कथन करते हैं वे अन्यथा नहीं होते। अतिमुक्त मुनि आत्मसाधक हैं और साधना करते हुए जो तथ्य जाना उससे मुझे अवगत कराया तो उसमें भ्रांति कैसे हो सकती है ? उसने सोचा- मैं इतनी चिन्ता क्यों करूँ, क्यों नहीं भगवान अरिष्टनेमि, जो पहुँचे हुए हैं, उनसे ही समाधान कर लूं ? यह है आत्म-अनुशासन की अवस्था कि बाजार में बात न करते हुए मुनियों के चरणों में पहुँचने का निर्णय लिया। आपने सुना है कि उन्हें कैसा समाधान दिया। हमारे भीतर भी वह सम्यक्‌दर्शन प्रकट हो जाये तो फिर देखिये जीवन की क्या दशा बनती है।

आपने ड्रिलिंग मशीन देखी होगी जो छेद करती है। यदि ट्यूबवेल लगाना हो तो वह मशीन नीचे उतरती है; मिट्टी व पत्थरों की काट-छांट करती है; कचरा निकालकर फेंकती है और जहाँ शुद्ध पानी है वहाँ पहुँचा देती है। इस प्रकार गहरे में रहे हुए शुद्ध जल तक पहुँचा देती है और बीच के कूड़े-कचरे को अलग कर देती है। वैसे ही सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व के कचरे को हटाकर, शांत सुधारस के दरिये तक पहुँचा देता है और बीच में आने वाले घातीकर्म की घाटियों को समाप्त करने वाला होता है। इसलिए ऐसी ड्रिलिंग मशीन को अपने भीतर फिट कर लो तो फिर ग्रंथि रह नहीं पाएगी और ज्योंही मूल ग्रंथि को काट लेते हैं तो जैसे मशीन के द्वारा मिट्टी को निकालकर पानी तक पहुँचते हैं, वैसे ही आप ग्रंथि-विमोचन से शांत सुधारस को उपलब्ध कर पाएंगे।

है पर्युषण जयकार, प्यारे जीवन में।
मन की गाँठें खोलो रे भाई, राग-द्वेष की कर दो विदाई,
मैत्री भावना धार, प्यारे जीवन में॥ 1॥
तपस्या से जीवन सरसाता, दिव्य तेज उससे प्रकटाता
मिले मोक्ष सुखकार, प्यारे जीवन में॥ 2॥
महावीर की अमृतवाणी, नाना गुरु कहे सुन रे प्राणी
आत्म 'राम' जयकार, प्यारे जीवन में......॥ 3॥

वन्धुओं ! ये पर्व पर्युषण हैं, जिनमें हम उन महापुरुषों के जीवन

वृत्तान्त को सुन रहे हैं जिनके भीतर यदि कहीं गाँठें रही थी तो उन्होंने उन्हें खोलने का प्रयत्न किया। आज आप स्पष्ट बात सुन लीजिये, चाहे हम अपनी गाँठें आज खोलें या कल, यदि मुक्ति में जाना है तो इन्हें खोलना ही पड़ेगा। जब तक गाँठ बनी रहेगी, तब तक मुक्ति मिल नहीं पाएगी न ही पूर्ण आनंद का स्रोत हमारे भीतर प्रस्फुटित हो पाएगा। यदि वे ग्रथियाँ खुल गईं तो यहीं, इसी भूमि पर आपको मुक्ति नजर आ जायेगी। मुक्ति में जाना बाद में होगा, किन्तु जैसे आप टी.वी. के पर्दे पर घर बैठे देख-सुन लेते हैं कि दिल्ली की पार्लियामेंट में क्या हो रहा है, वैसे ही यदि मन की गाँठें खोल लीं, सम्यग्दर्शन से नयन-पट खोल लिये तो केवलज्ञान के पर्दे पर विश्व की हर घटना का आपको बोध हो सकेगा। आप यहाँ पर रहते हुए ही अनंतानंत सिद्धों को देख लोगे कि वे किस रूप में विराजमान हैं। कई भाई पूछते हैं- ज्योति, ज्योति के रूप में कैसे विराजमान हैं ? इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि अरिहंतों के लिए यह विषय अनुभूति का है। हमारे लिए यह विषय श्रुति का है। अरिहंतों ने जैसा बताया वैसा जनता के बोध के लिए कहा जाता है। जैसे एक हॉल में हजार पॉवर का बल्ब जल रहा है। उसी हॉल में दूसरा एक बल्ब और हजार पॉवर का जल जाये तो पहले वाले बल्ब के प्रकाश में दूसरे बल्ब का प्रकाश समाविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार तीसरा, चौथा आदि बल्ब जल जायें तो उनका प्रकाश हॉल में समा जाता है। वैसे ही सिद्ध भगवान ज्योत में ज्योत के रूप में विद्यमान हैं। यदि हम चाहते हैं कि हमारे भीतर भी वह शक्ति जागृत हो जाय कि हम यहाँ बैठे हुए सिद्ध भगवान को देख लें तो उसके लिए पहली शर्त है कि उस गाँठ को खोल लें जो चाहे क्लेश की हो, चाहे धन-सम्पत्ति की हो। चाहे किसी और की हो, जब तक टेढ़ापन रहेगा तब तक तो सिद्ध का स्वरूप नहीं देख पाएंगे। यदि मुक्ति पानी है, तो मन की गाँठें खोलो। मनुष्य-तन प्राप्त करके अब भी न जगे तो कब जगेंगे ?

चेतन चेतो रे, दस बोल जगत् में दुर्लभ मिलिया रे।
चेतन चेतो रे.....।
चार गति में गेंद दड़ी ज्यूं, गोता बहुला खाया रे...।

दड़ी खेली है कभी ? जैसे गेंद कभी ऊपर और कभी नीचे जाती है, उसी तरह हम भी इधर-उधर डोलते रहे हैं, लेकिन अभी भी मन नहीं भरा, विचार कीजिये कि इस संसार में क्या-क्या नहीं घटित हो जाता है। आज जो मित्र हैं, वे ही कल गला काटने के लिये तत्पर हो जाते हैं। आज जिन्हें अपना समझते हैं, पलक झपकते ही वे क्या हो जाते हैं ? कहते हैं कि जोधपुर नरेश जसवंतसिंहजी ने एक पोशाक बनवाई कि यह पोशाक मुझे श्मशान यात्रा में पहनायी जाये। बहुत बड़ी कीमत से तैयार की गई उस पोशाक को देखकर महाराज ने मन में चिन्तन किया कि मैं जरा इसकी परीक्षा तो कर लूं कि आने वाले समय में जो अपने कहलाने वाले हैं, वे मेरे रहेंगे या नहीं ? और तो क्या, आपके अपने रक्त व शक्ति से जो संतान पैदा हुई है, क्या वह भी आपकी रहेगी ? और तो क्या कहें, आज की संतान तो माता-पिता पर हाथ उठाने को भी तैयार हो जाती है।

आचार्यदेव विचरण करते हुए एक गाँव में पधारे। जब विहार करने लगे तो भाई पहुँचाने आये। एक भाई ने 12-13 वर्ष के लड़के के लिए कहा- महाराज ! इसे साथ ले जाओ। गुरुदेव सोचने लगे कि बड़े शहर में तो फिर भी संतों का संयोग मिलता है जिससे कि भाव जग जायें। पर गाँव में रहने वाले को, जहाँ वर्षों में एकाध बार संयोग मिलता हो, वहाँ पर ऐसे भाव कैसे जग गये ? पूछ लिया- भाई ! बात क्या है ? उस भाई ने कहा- म.सा. क्या बताऊं, यह 12-13 वर्ष का है, पर बड़ा उद्दण्ड है। जब इसे गुस्सा आता है तब यह कुछ भी नहीं देखता। कपड़े धोने का सोटा उठाकर अपनी माँ को पीट देता है और मुझे भी नहीं छोड़ता। गुरुदेव ने कहा- भाई ले तो जाऊँगा, पर यह बताओ, यह सीखा कैसे ? तुम पति-पत्नी तो कभी लड़ते नहीं ? उसने कहा- जब इसका जन्म भी नहीं हुआ था, मैं इसकी माँ को पीट देता था। देखिये! वे ही संस्कार उसे मिल गये थे। आप सोचते हैं कि बच्चा अबोध है, क्या समझता है। किन्तु मत भूलिये कि गर्भ में रहते हुए भी वह घर की हरकतों को जान लेता है और वे संस्कार उसमें जमते जाते हैं और दुनिया में आता है तो उन्हीं हरकतों में ढलता जाता है। फिर कहें कि यह मेरा कहना नहीं मानता। जैसा आपने बोया है, वैसा ही फल मिलेगा। बबूल बोया है तो आम नहीं मिलेगा। बच्चे को संस्कारित करने से पहले स्वयं को संस्कारित होना होगा। संत-चरण से ऐसे

वच्चे भी सुधर सकते हैं, कोई बड़ी वात नहीं है। इतिहास प्रसिद्ध अंगुलीमाल एवं रोहिणेय जैसे व्यक्ति भी संत-चरण में पहुँचकर सुधर गये थे। पर बात है समय पर संतान भी पराई हो जाती है।

मैं वता रहा था महाराजा जसवंतसिंहजी ने परीक्षा की। श्वांस कपाल में चढ़ा लिया। राजकुमार, मंत्री सब इकट्ठे हो गये। मंत्री ने कहा- अंतिम यात्रा के लिये महाराज ने एक पोशाक बनवा रखी है, वही पहिनाई जानी चाहिये। मंत्री के आग्रह पर वह पोशाक लाई गई। जैसे ही उसे खोला गया, राजकुमार उस पर मुग्ध हो गया। उसने कहा- मंत्रीप्रवर, इतनी कीमती पोशाक ऐसे ही क्यों बर्बाद की जाये ? महाराज को कोई भी पोशाक पहनाई जाये, वह साथ तो जायेगी नहीं। इसलिये इसे तो सुरक्षित रखना चाहिये। मैं अवसर पर इसका उपयोग कर लूंगा। अंततोगत्वा वह पोशाक पहनाने का विचार त्याग दिया गया। देखिये बंधुओ ! व्यक्ति कैसे भ्रम में रहता है कि मेरे हैं, अपने हैं, पर वस्तुतः कोई किसी का नहीं होता, सब मतलब के होते हैं। महाराज जसवंतसिंह भी समझ गये कि जब तक आँखें खुली हैं तभी तक सब अपने हैं, आँखें बन्द हुई कि सब पराये हो जाते हैं।

तो बंधुओ ! संसार की वास्तविकता को समझिये। यहाँ न कुछ अपना है, न कुछ स्थायी है। इसलिये ज्ञान के द्वारा अपनी पहचान करके आत्मानुशासन की अवस्था प्राप्त कीजिये। याद रखिये कि इसके लिये सम्यक्त्व की अवस्था बहुत आवश्यक है। पर्युषण पर्व का लाभ उठाने के लिये आप एकत्र होते हैं, यह अवसर आत्मोद्धार का भी है। आप निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनते हैं तो पहला काम यह कीजिये कि अपने अंतर की ग्रंथियों को भी खोल डालिये। सबसे पहली ग्रंथि तो यह खोलिये कि इस भ्रामक विचार को दिमाग से निकाल दीजिये कि समाज में कोई वड़ा-छोटा होता है। आत्मा के स्तर पर तो सव वरावर हैं ही, फिर पता नहीं कि जिसे हम छोटा समझ रहे हैं, उसमें कितनी उदारता हो और वह कितना प्रेम करने वाला हो, जवकि जिसे हम बड़ा समझ रहे हैं वह कितना आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी और कठोर हो। आप सव समाज की जाजम पर साथ-साथ वैठे हैं, यही प्रवृत्ति जीवन में भी रहनी चाहिये।

मैं आपको एक बात बता दूं। आज व्यक्ति असंतुष्ट और दुःखी इसलिये नहीं है कि उसके पास साधन कम हैं। वह असंतुष्ट और दुःखी इसलिये है कि उसने ग्रंथियाँ बाँध रखी हैं। इन्हीं को काम्प्लेक्सेज (Complexes) या कुण्ठाएँ भी कहते हैं। ये कुण्ठाएँ हमें शांति से जीने नहीं देतीं, तनाव पैदा करती रहती हैं और मनुष्य इन्हीं के कारण मनोरोगों का शिकार हो जाता है। आपको पैसे वाले और सम्पन्न लोगों में ये कुण्ठाएं ज्यादा मिलेंगी। वे ही तनाव और हताशा, जिसे डिप्रेशन (Depression) कहते हैं, उसका शिकार हो जाते हैं। पैसा और सम्पन्नता उन्हें सुख-शांति नहीं दे पाती। यह तो सम्पन्नता और विकास की अंधी होड़ के कारण बंधने वाली ग्रन्थियों की बात हुई। इसी प्रकार की ग्रन्थियाँ भावनात्मक एवं व्यावहारिक जीवन में भी बंधती रहती हैं। ऐसी ग्रंथियाँ पारिवारिक जीवन की सुख-शांति नष्ट कर देती हैं। यहीं धर्म, अध्यात्म और संत-समागम की महिमा की बात आती है, क्योंकि इनका सेवन किसी भी प्रकार की ग्रंथियों को बनने ही नहीं देता। यह मन को इतना ऋजु, बुद्धि को इतना निर्मल और चिन्तन को इतना सरल बना देता है कि विचारों की रस्सी घूमती ही नहीं, इसलिये गाँठ लगने की स्थिति ही उत्पन्न नहीं होती।

पर्व पर्युषण के इस शुभ अवसर पर आप भले ही कुछ और न करें, पर यह तो अवश्य करें कि अपने मन को निर्मल और चिन्तन को सरल बनाये रखने का संकल्प ले लें। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि नई कोई ग्रन्थि तो बनेगी ही नहीं, पहले की लगी हुई कोई ग्रंथियाँ हैं तो उनके खुलते जाने की स्थितियाँ बन जायेंगी। आप निर्ग्रन्थ प्रवचन सुन रहे हैं तो इतनी प्रेरणा तो आप ग्रहण कर ही सकते हैं कि अपने मन को सरलता और निर्मलता की तरफ मोड़ने के लिए तैयार हो जायें। इतनी शुरुआत ही बहुत है। यह बीज है जो कालान्तर में उस बड़े वृक्ष के रूप में विकसित होगा, जिसकी ठण्डी छाया में बैठकर आप जीवन को ताप और थकान से मुक्त कर पायेंगे। यही तो धर्म-श्रवण का फल होता है। आप इसके अधिकारी बनें, यही कामना।

27.08.2000

❖ ❖ ❖

4. इच्छाओं का कर ले अन्त

भगवान महावीर ने अपनी देशना में जो जीवन-सूत्र प्रस्तुत किये हैं वे मनुष्य को परमगति प्राप्त कराने की दृष्टि से अनुपम हैं। मोक्ष प्राप्ति के उपायों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है-

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥

(उत्तराध्ययन28 11)

ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य और उपयोग जीव के लक्षण हैं। इनकी हम विवेचना कर लें।

जब तप जीव का लक्षण है तो उसकी आवृत्ति प्रत्येक जीव में होनी चाहिये, पर क्या सभी जीव तपस्वी हैं ? क्या सभी तपस्या करते हैं ? आप विचार में पड़ जाएंगे कि क्या सभी जीव तपस्वी नहीं हैं ? सत्य तो यह है कि साधु-साध्वी भी सभी तपस्वी नहीं हैं, सभी के साथ तपस्वी विशेषण, नहीं लगते हैं। यदि सभी तपस्वी हैं तो किसी के साथ तपस्वी विशेषण लगाना किसी के साथ नहीं लगाना, ऐसा क्यों ? बंधुओ ! विचार कीजिये, तप जीव का लक्षण है और प्रत्येक जीव में वह पाया भी जाता है। कैसे पाया जाता है, इसे समझें।

तप निर्जरा का भेद है और संसार में ऐसी कोई आत्मा नहीं जो प्रतिपल-प्रतिक्षण निर्जरा नहीं करती हो और न ही ऐसा कोई जीव है जो प्रतिक्षण-प्रतिपल भोजन ही करता हो। यह बात अलग है कि कोई त्यागपूर्वक आहार छोड़ता है और कोई आहार न मिलने से छोड़ता है। ऐसा भी होता है कि किसी का पेट भर जाये, भूख या रुचि नहीं हो तो कितने ही घंटों का अन्तराल भी आहार के बीच पड़ जाता है। पर यह निश्चित है कि निरंतर आहार कोई नहीं करता। आहार छूटता रहता है। दूसरे शब्दों में सोचें, आहार ग्रहण करना या छोड़ देना, ये ही तप नहीं है। तप को परिभाषा करते हुए कहा गया है-

मैं आपको एक बात बता दूं। आज व्यक्ति असंतुष्ट और दुःखी इसलिये नहीं है कि उसके पास साधन कम हैं। वह असंतुष्ट और दुःखी इसलिये है कि उसने ग्रंथियाँ बाँध रखी हैं। इन्हीं को काम्प्लेक्सेज (Complexes) या कुण्ठाएँ भी कहते हैं। ये कुण्ठाएँ हमें शांति से जीने नहीं देतीं, तनाव पैदा करती रहती हैं और मनुष्य इन्हीं के कारण मनोरोगों का शिकार हो जाता है। आपको पैसे वाले और सम्पन्न लोगों में ये कुण्ठाएं ज्यादा मिलेंगी। वे ही तनाव और हताशा, जिसे डिप्रेशन (Depression) कहते हैं, उसका शिकार हो जाते हैं। पैसा और सम्पन्नता उन्हें सुख-शांति नहीं दे पाती। यह तो सम्पन्नता और विकास की अंधी होड़ के कारण बंधने वाली ग्रन्थियों की बात हुई। इसी प्रकार की ग्रन्थियाँ भावनात्मक एवं व्यावहारिक जीवन में भी बंधती रहती हैं। ऐसी ग्रंथियाँ पारिवारिक जीवन की सुख-शांति नष्ट कर देती हैं। यहीं धर्म, अध्यात्म और संत-समागम की महिमा की बात आती है, क्योंकि इनका सेवन किसी भी प्रकार की ग्रंथियों को बनने ही नहीं देता। यह मन को इतना ऋजु, बुद्धि को इतना निर्मल और चिन्तन को इतना सरल बना देता है कि विचारों की रस्सी घूमती ही नहीं, इसलिये गाँठ लगने की स्थिति ही उत्पन्न नहीं होती।

पर्व पर्युषण के इस शुभ अवसर पर आप भले ही कुछ और न करें, पर यह तो अवश्य करें कि अपने मन को निर्मल और चिन्तन को सरल बनाये रखने का संकल्प ले लें। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि नई कोई ग्रन्थि तो बनेगी ही नहीं, पहले की लगी हुई कोई ग्रंथियाँ हैं तो उनके खुलते जाने की स्थितियाँ बन जायेंगी। आप निर्ग्रन्थ प्रवचन सुन रहे हैं तो इतनी प्रेरणा तो आप ग्रहण कर ही सकते हैं कि अपने मन को सरलता और निर्मलता की तरफ मोड़ने के लिए तैयार हो जायें। इतनी शुरुआत ही बहुत है। यह बीज है जो कालान्तर में उस बड़े वृक्ष के रूप में विकसित होगा, जिसकी ठण्डी छाया में बैठकर आप जीवन को ताप और थकान से मुक्त कर पायेंगे। यही तो धर्म-श्रवण का फल होता है। आप इसके अधिकारी बनें, यही कामना।

27.08.2000

❖ ❖ ❖

4. इच्छाओं का कर ले अन्त

भगवान महावीर ने अपनी देशना में जो जीवन-सूत्र प्रस्तुत किये हैं वे मनुष्य को परमगति प्राप्त कराने की दृष्टि से अनुपम हैं। मोक्ष प्राप्ति के उपायों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है-

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥

(उत्तराध्ययन28 11)

ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य और उपयोग जीव के लक्षण हैं। इनकी हम विवेचना कर लें।

जब तप जीव का लक्षण है तो उसकी आवृत्ति प्रत्येक जीव में होनी चाहिये, पर क्या सभी जीव तपस्वी हैं ? क्या सभी तपस्या करते हैं ? आप विचार में पड़ जाएंगे कि क्या सभी जीव तपस्वी नहीं हैं ? सत्य तो यह है कि साधु-साध्वी भी सभी तपस्वी नहीं हैं, सभी के साथ तपस्वी विशेषण, नहीं लगते हैं। यदि सभी तपस्वी हैं तो किसी के साथ तपस्वी विशेषण लगाना किसी के साथ नहीं लगाना, ऐसा क्यों ? वंधुओ ! विचार कीजिये, तप जीव का लक्षण है और प्रत्येक जीव में वह पाया भी जाता है। कैसे पाया जाता है, इसे समझें।

तप निर्जरा का भेद है और संसार में ऐसी कोई आत्मा नहीं जो प्रतिपल-प्रतिक्षण निर्जरा नहीं करती हो और न ही ऐसा कोई जीव है जो प्रतिक्षण-प्रतिपल भोजन ही करता हो। यह बात अलग है कि कोई त्यागपूर्वक आहार छोड़ता है और कोई आहार न मिलने से छोड़ता है। ऐसा भी होता है कि किसी का पेट भर जाये, भूख या रुचि नहीं हो तो कितने ही घंटों का अन्तराल भी आहार के बीच पड़ जाता है। पर यह निश्चित है कि निरंतर आहार कोई नहीं करता। आहार छूटता रहता है। दूसरे शब्दों में सोचें, आहार ग्रहण करना या छोड़ देना, ये ही तप नहीं

"इच्छानिरोधस्तपः"।

अर्थात् इच्छाओं का निरोध तप है। हमारी इच्छाएँ बलवती होती रहती हैं। पर ऐसे भी क्षण होते हैं, जिनमें हम किसी प्रकार की इच्छा न करते हों, इसलिए इस तप की आवृत्ति जीव मात्र में रही हुई है। हम जितनी इच्छाओं में दौड़ते हैं उतने ही 'स्व'भाव से अलग होते हैं, दूर होते हैं। यदि अपने 'स्व'भाव को प्राप्त करना है तो इच्छा को छोड़ना त्यागना होगा। इच्छा छोड़ना, त्यागना यह अलग बात है, पर ऐसी अवस्था बने कि इच्छा जगे ही नहीं। पर इससे पहले सोचें कि इच्छा का जागरण क्यों होता है ?

उत्तराध्ययन सूत्र में इस बात का संकेत किया है कि 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ का जागरण होता जाता है और इच्छा बलवती होती जाती है। यदि लोभ समाप्त हो जाये तो उसके बाद इच्छा नहीं जगेगी। नीचे आग लगी है तो पानी में भाप बनेगी, दूध में उफान आयेगा, क्योंकि नीचे आग पड़ी है। वैसे ही जब तक हमारे भीतर आसक्ति, मूर्च्छा या लोभ की भावना बनी हुई है, तब तक इच्छाओं का जागरण भी होता रहेगा। इसके विपरीत जितना-जितना संतोष गुण आता जायेगा, आप देखेंगे कि इच्छाएँ भी शांत होती चली जायेंगी। इस संतोष गुण की प्राप्ति कैसे की जाये, इसके लिए हमें अपने ही अंतर में खोज करनी होगी, क्योंकि बाहर के पदार्थ संतोष नहीं दे पाएंगे। वाहर के पदार्थ तृष्णा को तो बढ़ा सकते हैं, पर संतोष नहीं करा पाएंगे। इच्छा को समाप्त करना है और इच्छा जगे नहीं, ऐसा प्रयत्न करना है तो दृष्टि का परिमार्जन आवश्यक है। जब तक दृष्टि का परिमार्जन नहीं होता, तब तक इच्छा शांत करना या इच्छा जगे नहीं ऐसा होना संभव नहीं है। खेत में यदि खाद दी जा रही है, पानी का सिंचन किया जा रहा है और वीज पड़े हैं, तो फिर कोई कारण नहीं है कि बीजों में प्रस्फुटन न हो, पौधे न निकलें। परन्तु यदि वीज जमीन में डाल दिया और खाद-पानी न दिया तो वीज मिट्टी में दवा रह सकता है और कालान्तर में समाप्त भी हो सकता है। वैसे ही हमारी इच्छाओं का वीज पड़ा है, उसे खाद-पानी का संयोग न मिले तो इच्छाएँ समाप्त हो सकती हैं। खाद-पानी

से तात्पर्य है अनुकूल साधनों की प्राप्ति और उनके प्रति रहा हुआ लगाव। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि अनुकूलता की प्राप्ति हो जाये, प्रतिकूलता दूर हो जाये, पर यह हमारा निजी स्वरूप या 'स्व'भाव नहीं है, यह हमारा 'पर' भाव है। जब तक अनुकूल की अपेक्षा करेंगे, प्रतिकूल से अलग होने की स्थिति बनी रहेगी। यह भटकाव है।

शास्त्रकारों ने इसे आर्त्तध्यान कहा है। आर्त्तध्यान जीव का मौलिक स्वरूप नहीं है। सोमिल ने गजसुकुमाल को देखा। देखते ही भीतर कैसे भाव जागृत हुए और कैसा रोष प्रकट हो गया ! क्या कारण था ? कारण, मूल में उपादान स्वयं का रहा हुआ था। किन्तु निमित्त कारण था यह विचार कि अरे ! यह साधु बन गया ! मेरी लड़की की माँग की गई और यह साधु बनकर खड़ा हो गया ! यह इसने क्या किया ! एक अभिलाषा थी कि त्रिखण्डाधिपति के भाई के साथ मेरी लड़की का संबंध हो तो मेरा भी कद कुछ ऊँचा हो जाए। बड़े व्यक्ति से यदि कुछ संबंध स्थापित हो जाता है, तो व्यक्ति स्वयं को बहुत भाग्यशाली समझने लगता है। बहुत-से व्यक्तियों को देखा होगा कि राष्ट्रपति-प्रधानमंत्री आदि से हाथ मिलाते दिख जायें, ऐसी उनकी कामना रहती है। मन में तीव्र भावना रहती है कि ऐसे क्षण कैमरे में कैद हो जायें और यदि कैमरे में कैद हो गये तो उनका जो ड्राइंग रूम है, गेस्ट हाउस है, उसमें वे फोटो रखे जाते हैं ताकि वह बतला सके कि मैं सामान्य व्यक्ति नहीं हूँ। मैं राष्ट्रपति से मिल चुका हूँ। मेरी पहुँच प्रधानमंत्री तक है। ये मन की अभिलाषाएँ हैं या नहीं ? और सोमिल भी चाहता था कि गजसुकुमाल से संबंध हो गया तो लोगों को लगेगा कि यह कृष्ण का बयाई है, समधी है। आज भी यदि कोई व्यक्ति प्रधानमंत्री का पी.ए. है या पी.ए. भी नहीं, उसका भी कोई आदमी है तो उसकी भी ऐंठ रहती है कि मैं प्रधानमंत्रीजी के पी.ए. का संबंधी हूँ। कहीं परिचय देता है तो कहेगा प्रधानमंत्रीजी के पी.ए. मेरे मामा हैं। यह परिचय दिया जाता है। यह है मन की इच्छा। यह जितनी बलवती होती है, आत्मभाव से वह उतनी ही दूर ले जाती है। वैसी ही भावना कोई धर्मक्षेत्र में रख सकता है कि मैं आचार्यश्री के निकट का व्यक्ति हूँ। मेरी पहुँच गणधर गौतम स्वामी या तीर्थंकर देवों तक हो

सकती है। जयंतिबाई, शास्त्रों में एक ही ऐसी श्राविका का नाम है, जिसने भगवान से प्रश्न किये थे, पर क्या इस भाव से किये थे कि श्राविकाओं को बतलाया जाये कि जयंति भगवान से प्रश्न कर सकती है ? क्या गणधर गौतम ने इसलिए प्रश्न किये थे कि दुनिया जान ले कि यदि भगवान के निकट कोई साधु है तो वह गौतम है ? गौतम से पहले 9 गणधर मुक्ति में जा चुके थे। केवलज्ञान प्राप्त कर चुके थे। यदि गौतम निकट के होते तो पहले केवलज्ञान की माला गौतम को पहनायी जाती। पर क्या पहनाई गई ? यह हमारा चिन्तन या दृष्टिकोण ही हो सकता है; दिमाग की उपज ही हो सकती है। सोमिल की भी अभिलाषा पर चोट पहुँची थी। उसकी इच्छा पर तुषारापात हुआ तो वह तिलमिला उठा। आप जानते है कि यदि एक व्यक्ति को लाभ मिलना है, उसमें कोई व्यवधान पैदा करे तो वह उसे पछाड़ने का हर संभव प्रत्यत्न करेगा। क्योंकि उसे यह शिकायत होगी कि इसने मेरे लिए आने वाली लक्ष्मी के द्वार बन्द कर दिये थे। अब कुछ भी हो जाये, मैं इसे धूल चटाये बिना नहीं रहूँगा। इस प्रकार से वैरानुबंधी वैर का कर्मबंध कर लेता है। पर ध्यान रखिये कि ऐसे विचारों से दूसरे का कुछ बिगड़े, न बिगड़े, हमारा जरूर बिगड़ेगा। सोमिल तिलमिलाहट में विचार करता है- यह धूर्त है। इसने मेरे मंसूबों पर पानी फेर दिया है। ऐसे विचार करते हुए वह क्रोधित हो गया। फिर क्या था ? क्रोध में उसे कुछ भी नजर नहीं आ रहा था। उसने इधर-उधर देखा, कोई देख नहीं रहा था। देखा, मौका अच्छा है। तालाब की गीली मिट्टी लाकर, पाल बांधकर सिर पर अंगारे रख दिये।

अंगारे सिर पर धधक रहे,
समभाव से गजसुकुमाल सहे,
केवल ज्योति प्रकटाये है।। ये पर्व पर्युषण.....।
इतिहास सुनो उन वीरों का,
गृह त्यागी और गंभीरों का,
निज सौरभ जो महकाये हैं।। ये पर्व पर्युषण.....।

बन्धुओं ! गजसुकुमाल के मन में यदि यह भावना आती कि सोमिल मेरे सिर पर अंगारे रख रहा है और मैं समभाव से सहन करूँ तो

दुनिया इतिहास वाँचती रहेगी, तो मेरे ख्याल से आज कोई नहीं वाँचता। तव शायद गजसुकुमाल का नाम भी जुबान पर नहीं आता। पर ऐसी कोई विचारणा गजसुकुमाल के मन में नहीं आई। वल्कि उनका उस ओर ध्यान ही नहीं गया। कई कविता रचने वाले कविता में अपनी-अपनी भावना का रंग भर देते हैं कि गजसुकुमाल अपने भीतर यह विचार करते हैं कि मेरे ससुरजी मेरे सिर पर पगड़ी बांध रहे हैं। यदि वहाँ ससुर-जंवाई की भावना वनी रहती तो क्या केवलज्ञान की ज्योति प्रकट होती ? नहीं होती। ऐसे भावों से ऊपर उठना होता है। वे अंगारे उनके सिर पर धधक रहे थे और वे वहाँ सारे के सारे संयोगों और इच्छाओं को जलाकर समाप्त कररहे थे। तव भीतर का केवलज्ञान प्रकट हुआ था। ऐसे ही नहीं प्रकट हुआ था। केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये स्वयं को पूर्णतया तपस्या में तपाना पड़ता हैं और जव इच्छा जल जाती है तव फिर देखिये कि केवलज्ञान की ज्योति कैसे प्रकट होती है मुक्ति वरमाला लेकर खड़ी हो जाती है कि आओ, मैं वरण करने को तैयार हूँ। नहीं तो कितने भी मुक्ति के लिए खड़े रहिये, गर्दन नमा लीजिये, पर माला गले में नहीं पड़ेगी। यदि यह भी चाह हो कि मुक्ति की वरमाला पड़ जाये तो भी नहीं पड़ेगी। इन सभी इच्छाओं को समाप्त करो। हम इच्छा करते हैं इसलिए रंग भर देते हैं कि मुक्ति की कामना करनी चाहिये। इच्छा तो हमने वहुत की, पर इच्छा करने से ही सवकुछ नहीं मिलता। पर यदि चाह समाप्त कर लें तो चाह समाप्त करते ही तत्काल मुक्ति के द्वार खुलते मिलेंगे। यदि नंवरी ताला है और नंवर न मिलाओ, टटोलते रहो तो द्वार नहीं खुलेगा और नंवर मिला लिया, तो खुल जायेगा। नम्बर कैसे मिलते हैं, यह भी जान लीजिये।

एक संत ऐसे ही थे, जिन्हें लब्धि प्राप्त थी, जिससे वे किसी के भी भाव पढ़ सकते थे। गृहस्थ के यहाँ गोचरी हेतु गये। पातरा रख दिया और गृहस्थ के भाव पढ़ने लगे। संयोग वना कि गृहस्थ ने घी से पात्र भर दिया, पर वे कुछ नहीं बोले। गृहस्थ विचार करने लगा- कैसा साधु हैं ? घी पातरे से बाहर जा रहा है फिर भी नहीं कहता कि वहुत हो गया, सब्र करो; बिना कहे वंद करूँ तो कहेंगे कंजूस है। कहा नहीं, पर मन में तो आ ही गया। भाव पढ़ने में तन्मय मुनि गृहस्थ के गिरते भाव देख एकदम

से बोल पड़े- "ठहर जा-ठहर जा।" गृहस्थ बोला- कांई ठहर जावे, अवे ठहरने रो ध्यान आयो ? तब मुनि ने पात्र की ओर देखा और बोले- श्रावकजी ! बात दूसरी थी। श्रावक ने कहा- आप अब कहते हो, ठहर जा ! इतना कहकर चला गया। अब तो पीपे में पावभर ही बचा होगा। संत कहने लगे- मेरी गलती है। मेरा ध्यान भिक्षा में नहीं रहा था। मैं भाव पढ़ने में रह गया था। तब रोका, जब भाव गिरते चले गये। पहले भाव वढ़ते रहे थे। ज्यों-ज्यों बढ़े, पहले-दूसरे देवलोक को लांघकर निरन्तर आगे बढ़ते रहे। पर भाव गिरने लगे तो ऐसे कि तिर्यंच गति जैसा बन गया और गिरते जा रहे थे तो मैंने कहा- ठहर जा। श्रावक हतप्रभ रह गया। कहा- गुरुदेव ! क्या फरमा रहे हैं ? मुनिजी बोले- "जो देखा वह कह रहा हूँ।" श्रावक ने आजिजी से कहा- गुरुदेव ! अब एक बार फिर पातरा माँड दो। पर राई का भाव तो रात में ही चला गया था। अब कुछ मिलने वाला नहीं था।

श्रेणिक ने एक बार वंदन किया तो कहा- छः नारकी के बंधन टूट गये। अब तो एक ही बाकी है। वह फिर तिक्खुत्तो, आयाहिणं, पायाहिणं...... करने लगा। पर मगध सम्राट् श्रेणिक को भगवान ने कहा- अब यह लागू नहीं होगी। पहले जो वंदना थी उसमें चाह नहीं जुड़ी थी, अव चाह-अभिलाषा जुड़ गई। अब मन में हो गया कि वंदन से नरक के बंधन टूट जायेंगे, तो ऐसे नहीं टूटेंगे। श्रावक कहता है- गुरुदेव ! एक वार और माँड दो पातरा, दूसरा पीपा खोलकर बहरा दूंगा। पर अव वात एक नहीं रही थी। अव दस पीपे भी बहरा दे तो भी अब वह चीज नहीं, वह वात तो चली गई। इसीलिये कहा जाता है कि जिसके पीछे चाह जुड़ जाती है उसका सारा का सारा स्वरूप अलग हो जाता है, पर जहाँ चाह नहीं है तो वहाँ क्या वनता है ? मगध सम्राट् श्रेणिक ने एक वार के वंदन से 6 नरक दलिक समाप्त कर दिये थे। एक बार का दान दिया तो देवलोक तक पहुँच गया। जीर्ण सेठ के लिए भगवान कहते हैं- वैसे ही परिणाम अन्तर्मुहूर्त तक और चढ़ते तो केवलज्ञान प्राप्त हो जाता। यह है नम्बर मिलाने का तरीका। इसलिए हम कोई भी धार्मिक क्रिया करें तो उसमें चाह जोड़ें नहीं। उसे समाप्त करने का प्रयत्न करें। तो आत्मा में

स्थित मिलेंगे, परन्तु जितनी चाह जोड़ते जाएंगे उतने आत्मा से बाहर निकलते हुए चले जाएंगे। सड़क पर घूमते व्यक्ति की तरह होंगे, घर में मौजूद नहीं रह पाएंगे। इसलिए कहा- इच्छा आकाश के समान अनंत है, उस पर ब्रेक नहीं लगाया तो आकाश की भांति उसका भी अंत नहीं आएगा। वह आपके जीवन को कटी पतंग की भांति कहाँ ले जाकर पटकेगी, पता नहीं। चाह आपको नरक में डालेगी। वह तिर्यंच में और अनंत संसार में परिभ्रमण कराने वाली है। यह स्वरूप है, फिर भी हम हैं कि चाह को अपने साथ जोड़े रखेंगे।

घेवरिया मुनि की चाह की बात आपने सुनी होगी। एक मुनि गोचरी आये, श्रावक ने बहुत आग्रह किया कि घेवर लेना ही पड़ेगा। उन्होंने कहा- नहीं, पर आग्रह बहुत था तो बड़ी कठिनाई से थोड़ा-सा लिया। इधर कारीगर काम कर रहा था। मन में सोच रहा था कि घेवर मुझे भी खाने को मिले। पर सेठ देवे कांई ? मैं महाराज थोड़ी हूँ। महाराज को तो दे दे। महाराज आये तो बादाम की कतली और वे मना करें तो भी बर्तन खाली कर दे। पर घर में नौकर काम कर रहा है, उसे क्या भरपेट बादाम की कतली मिलती है ? घर में विवाह-शादी है, हजारों मेहमान जीमकर जायेंगे, पर नौकर को क्या मिलेगा ? शास्त्रकारों ने सेवक को कौटुम्बिक पुरुष माना है। वह 24 घंटे ड्यूटी देता है, पर उसके साथ कैसा व्यवहार होता है ? कभी आपने 'जवाहर किरणावली' को पढ़ा ? आचार्य नानेश की वाणी सुनी कि सेठों के घर स्वयं के लिए पतले-पतले फुलके और नौकर के लिए मक्के के या बाजरे के सोगरे। वह मूंग-मसूर की दाल खाना क्या जाने ? उस समय की बात बता रहा था, हो सकता है आज गेहूँ के मिलते हों। किन्तु कहने का आशय है कुछ भी खिलायें, उसका पेट भर सकता है। पर यह भेद नहीं होना चाहिये। मानवता के आधार पर उसे मानवीय अधिकार दिया जाये तो कहीं भी विषमता नहीं पनपे। विषमता कब पनपती है ? जब मानवता के अधिकार से मानवता नहीं मिलती। दुत्कार मिलती है तो वह उसके भीतर विपरीत परिणमन करती है। वह एक दिन बगावत के रूप में खड़ी हो जाती है। राजाओं के पीछे बगावत क्यों हुई ? क्योंकि उन्होंने शोषण किया। आज बंगाल में

व्यापारियों के लिए क्यों कहा जाता है कि आये थे कम्बल-लोटा लेकर, लेकिन मालामाल हो गये। इसमें व्यापारियों की भी गलती रही है। एक को इक्कीस बनाने में लग गये। दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि यदि महाजन नहीं होते तो वहाँ विकास भी नहीं होता। जहाँ भी महाजन का बच्चा पहुँचा, वहाँ विकास हुआ है। हम विहार करके आ रहे थे तो एक गांव वालों ने अमुक गांव के लिए कहा- उस गांव में नहीं रुकना, वह ठीक नहीं है। पूछा- क्यों ठीक नहीं है ? बोले- लोग ठीक नहीं हैं। हमने पूछा- महाजन का कोई घर हैं ? एक भी नहीं। तब चिंतन चला कि यदि महाजन पहुँच गया होता तो वहाँ परिवर्तन हो जाता। पुराने समय में कहावत चली थी-

"महाजनो येन गता स पंथा।"

जहाँ से महाजन निकले, वह मार्ग बनता है। उस पर दूसरे व्यक्ति बेहिचक चलते हैं। पर आज महाजनों के लिये महाजनत्व का 'महा' हटाकर मात्र 'जनत्व' रखना भी कठिन हो गया है। उसका कारण है हमारे भाईयों की इच्छा, चाह, लोभ, लूट-खसोट जैसी प्रवृत्तियों का बढ़ जाना। परिणाम यह हुआ है कि पूरी महाजन जाति लांछित होने की स्थिति में आ गई है। बन्धुओं ! वह कारीगर चला गया महाराज के पीछे-पीछे। स्थानक में जाकर कहा- "घेवर के लिए इतना आग्रह था, फिर क्यों नहीं लिये ?" महाराज ने कहा- "लाकर क्या करता ? रात्रि को हमें रखना नहीं। उतना ही लेना है जितना दिन में उठ जाये।" कारीगर ने कहा- "आप क्यों विचार करते हो, मैं खा लेता।" मुनि ने कहा- "खा तो लेते, पर हम ऐसे देते नहीं। हम लाते हैं साधु के लिए।" कई भाई कहते हैं कि महाराज! यह तो उपकार का काम है। आप क्यों नहीं लेते ? हमने तो देखा है संतों को पातरे में से बादाम-काजू निकाल कर देते हुए। बन्धुओं ! दुनिया बहुरंगी है। यह भी दुनिया का एक रूप है, इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं। पर साधु की मर्यादा है। वे अपने लिए लाते हैं। गृहस्थ उन्हें वितरण के लिए नहीं देते। यदि वह सांभोगिक के अलावा किसी को देता है तो वह चोरी करने वाला है। इसलिए साधु अन्य को नहीं दे सकते। पर इसका मतलब यह नहीं है कि उनके घट में करुणा

नहीं है। यदि साधु बना तो खूब लाकर देंगे। कारीगर ने पूछा- "पक्की बात है, खिलाओगे !" उत्तर मिला- "क्यों नहीं खिलाएंगे ?" बन गया वह महाराज। वह खाता रहा। खाते-खाते विचार एकदम बदले- मैंने कपड़े बदले तो रोज घेवर मिल रहे हैं, मान-सम्मान मिल रहा है। यदि अंतर भी इतना बदल जाता तो क्या स्थिति बन जाती ! चिन्तन जैसे ही बदला, स्थिति बदल गई। हलुकर्मी आत्मा पाटे पर बैठने के निमित्त से भी ले तो लेने के बाद उसमें परिवर्तन भी आ सकता है। वे आध्यात्मिक विकास-मार्ग पर बढ़ सकते हैं। पर भारी कर्म जीव देवलोक के सुख के लिए करता है तो वही प्राप्त होता है, आगे कुछ हासिल नहीं करता। बातें कुछ इधर-उधर बिखर गई। पर बीच में कुछ आती हैं तो स्पष्ट किये बिना भी चैन नहीं पड़ता।

सोमिल ने तैश में आकर अंगारे रख दिये, पर गजसुकुमाल शांत भाव में बने रहे। हम चाहे कुछ भी कल्पना करें, विचारों का कोई रंग भर दें, पर वहाँ कोई रंग नहीं था। वह बैरंग चल रहा था। अध्यवसायों में किसी प्रकार का रंग नहीं था। न तेजोलेश्या का, न पद्म लेश्या का, लेकिन शुक्ल भावों में चल रहे थे। बल्कि यह कह दूं कि उन्हें यह एहसास ही नहीं हुआ कि सिर पर अंगारे रखे गये थे, क्योंकि शरीर पर ममता ही नहीं थी। शरीर का अलगाव कभी का कर चुके थे। शरीर का अलगाव कर दिया जाय तो संवेदना समाप्त हो जाती है, जैसे- डॉक्टर यदि क्लोरोफार्म सुंघा दे, फिर अंग भी काट दे तो व्यक्ति को मालूम नहीं पड़ता है। उसे दर्द महसूस नहीं होता है। नहीं तो सुई लगा दें तो चिल्लाएगा, दर्द होगा, पर क्लोरोफार्म सुंघा कर महत्त्वपूर्ण अंग काटने पर भी दर्द महसूस नहीं होता। वहाँ वेदना का रूप बदल जाता है। हमारी संवेदन शक्ति उस समय गौण हो जाती है। फिर चाहे हार्ट चेन्ज कर दो। उस समय कोई अंगारे रखे, कीलें ठोके, कोई अंतर नहीं पड़ता है। इसलिए कभी-कभी कहा जाता है।

कुल्हाड़ी से कोई काटे,
कोई आ फूल बरसाये....।

गजसुकुमाल मुनि ने कितने व्याख्यान बांचे ? एक भी नहीं। और मुक्ति रुकी कि हो गई ? मुक्ति हो गई। चाहे एक भी व्याख्यान नहीं बांचा होगा, पर उनका मौन ही व्याख्यान था जो इतने हजार वर्षों के बाद भी कायम है। लगभग 86000 वर्षों का समय बीत चुका है, पर उनका मौन व्याख्यान जो प्रेरणा आज भी दे रहा है वह हमारे मुँह से बोला हुआ व्याख्यान भी नहीं दे सकता। गजसुकुमाल की छवि जैसे ही सामने आती है, हम अपने को तोलने लगते हैं। उनके तो सिर पर अंगारे धधक रहे थे। हमारे कहाँ धधक रहे हैं ? हृदय जल रहा है। माथा जल जाये तो कोई बात नहीं, तर्क समाप्त हो जायेंगे पर हृदय समाप्त हो गया, हृदय चला गया तो ?

जो भरा नहीं है भावों से
बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।
जिसमें सद्धर्म का प्यार नहीं।

जिसमें धर्म की धारा प्रवाहित नहीं हो रही है, वह हृदय भी क्या हृदय है ? वह तो पत्थर हैं। यदि हृदय में अंगारे धधक रहे हैं तो गजसुकुमाल का अनुकरण कर शीतलता का समीर प्रवाहित करें कि वे इच्छा के अंगारे समाप्त हो जायें। यही पर्युषण पर्व हमें संदेश देता है कि उस पर शांत भावों का छिड़काव कर दो। यदि छिड़क दिया तो आग सारी समाप्त हो जायेगी। गर्म तवे पर पानी की एक बूंद डाली जाये तो वह वहाँ दिखाई नहीं देगी। किंतु निरन्तर छिड़काव चालू रहे तो आग शांत, तवा ठंडा और पानी की बूंदें दिखाई देने लगेंगी। वैसे ही एक समय ऐसा आयेगा कि हृदय अत्यंत शांत हो जायेगा।

कृष्ण प्रभु अरिष्टनेमि के पास पहुँचे। इधर-उधर देख रहे हैं। किसे खोज रहे हैं ? और आपके घर से किसी ने दीक्षा ली हो और आप दूसरे दिन आयें तो किसकी अपेक्षा रहेगी ? भाई महाराज का दर्शन कर लूं। कृष्ण की आँखें भी खोज कर रही हैं। भगवान कहते हैं- मार्ग में क्या घटना घटी ? वृद्ध की एक ईंट तुमने रखी तो सारी की सारी ठिकाने

पहुँच गई। जैसे तुमने वृद्ध को सहयोग दिया, वैसे ही गजसुकुमाल को सहयोग मिल गया वे सभी कर्मों का क्षय करके मोक्ष चले गये? उन्होंने मुक्ति को प्राप्त कर लिया। कृष्ण वासुदेव विचार करने लगे, मुक्ति को प्राप्त कर गये ? मैं दर्शन भी नहीं कर सका। भगवन् ! वह व्यक्ति कौन है जिसने प्रताड़ित किया मेरे भ्राता मुनिवर को ? भगवान ने यह नहीं कहा कि अमुक ने प्रताड़ित किया, उन्होंने कहा- सहयोग दिया। वह कौन है ? उत्तर मिला- जब तुम वापस लौटोगे तब तुम्हें देखकर जो मार्ग में धड़ाम से भूमि पर गिर पड़े, समझ लेना वही है। बहुत लंबी घटना है। संक्षेप में सुनो। कृष्ण ने सोचा- राजमार्ग से नहीं, गली मार्ग से चलो। सोमिल ने कृष्ण को गली में देखा। उसने सोचा- अरे ! इन्हें तो भगवान ने बता दिया होगा और वह वहीं पर गिरकर मर गया।

राम किसी को मारे नहीं,
नहीं हत्यारा राम।
अपने आप मर जाएगा,
कर-कर खोटे काम ॥

तीर्थंकर परमात्मा किसी को मारने वाले नहीं हैं। वे तो प्रत्येक को अभय देते हैं, पर व्यक्ति को उसके अपने काम ही मृत्यु तक पहुँचा देते हैं। सोमिल को किसी ने कुछ कहा नहीं, पर उसी का पाप उसको खा गया और वैसी स्थिति बनी। इसी तरह हम भी छिपकर पाप करें और सोचें कि कोई नहीं देख रहा है तो यह मत भूलो, सिद्ध भगवान देख रहे हैं। कदाचित् सिद्ध भगवान को मानो न मानो, पर तुम्हारी आत्मा तुम्हें जरूर देख रही होती है। आत्मा से कुछ छिपता नही है। वह जागृत है। वह पापकृत्य देख रही होती है। वे कृत्य संस्कार छोड़कर जाते हैं और उनका फल मिलता है। इसीलिए कहा गया है-

करोगे बुराई, मिलेगी बुराई।
करोगे भलाई, मिलेगी भलाई।।
यदि भला किसी का कर न सको तो
बुरा किसी का मत करना...।।

आज के दिन कोई किसी का बुरा नहीं करेगा। कितने व्यक्ति

तैयार हैं कि आज के दिन किसी की बुराई नहीं करनी है ? देखिये, क्या नजारा है जयपुर का । एक साथ धड़ल्ले से हाथ खड़े कर दिये गये हैं। लोग किसी का बुरा नहीं करना चाहते। इसलिए मन कहता है।

शुभ पर्व पयूर्षण सुन्दर आये हैं जयपुर शहर में.......।

बन्धुओं ! यह तो प्रंसग आ गया तो कड़ी बात कह दी, वस्तुतः उत्तम पुरुषों के चरित्र सुनने के बाद विचार न बदलें तो समझ लीजिये कभी नहीं बदलेंगे। इसीलिए अतंगड़ सूत्र का वाचन किया जाता है, ताकि उस दर्पण में हम अपनी छवि देखते रहें। उनके चरित्रों को देख, अपने स्वयं के चरित्र का मूल्यांकन करें कि कहाँ-कहाँ मेरे जीवन में बुराई है। जहाँ बुराई है वहाँ से उसे दूर कर, धर्म में अपने जीवन को लगा दें।

महाश्रमणीरत्ना इन्द्रकंवरजी म.सा. को खड़े होकर बोलने में असुविधा होती है। पाट पर बैठकर भी बोलने में श्वांस भरने लगता है, किंतु संत कह दें तो आज्ञा की पालना करने में वे शारीरिक असुविधा और कष्ट को गौण मान लेती हैं। आप जानते हैं कि यदि अनुशासन, आज्ञा-पालन और आराधना बड़े करते हैं तो साथ रहने वाले छोटे अपने आप संस्कारित हो जाते हैं।

उत्तम पुरुषों के चरित्र की तो महिमा है ही, अपने से बड़े और पूज्य तथा संत-सतियों के जीवन और चरित्र भी प्रेरणा देने वाले होते हैं स्वयं को प्रेरणास्पद बनाने के लिए। इसलिए त्याग करना पड़ता है तथा कष्ट और सुविधा भी उठानी पड़ती है।

आचार्यश्री चौथमलजी म.सा. के घुटनों में दर्द था। प्रतिदिन खड़े-खड़े हाथ में लकड़ी लेकर प्रतिक्रमण करते थे। श्रावकों ने प्रार्थना की- "अन्नदाता ! आप विराजकर कर लें।" उन्होंने कहा- श्रावकजी ! आज मैं वैठकर करूँगा तो कल साधु हैं ना, उन्हें बैठना भी भारी पड़ेगा।" देखिये महापुरुषों का चिन्तन, वे स्वयं को कष्ट में डाल सकते हैं, किन्तु संस्कृति को धूमिल नहीं होने देते। यह नहीं कि एक के निमित्त से संस्कृति को आंच पहुँचे। महाश्रमणीरत्नाजी को तकलीफ, है पर संकेत मिला तो खड़े हो गये। चौरड़ियाजी ने निवेदन किया-

"विराजे-विराजे फरमा दें।" बात आपकी ठीक है, किन्तु एक तो बैठे-बैठे आवाज दूर तक नहीं जाती, फिर अनुशासन की पालना बड़े करते हैं तो उससे छोटों को संस्कार मिलते हैं। कई बातें बतलाने से समझ में आती हैं और कई मौन से। जो बतलाकर नहीं दिया जा सकता, वह मौन से दिया जा सकता है। वहाँ मौन प्रभावी बनता है।

उपदेश चाहे मौन दें या मुखर, उसका मूल ध्येय एक ही है कि आत्मा, जो इच्छाओं में उलझी हुई है, वह उनसे मुक्त हो। इच्छाओं से मुक्त होना ही तप है। यह तप आत्मा का स्वभाव है। इच्छाओं में रहना आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। इस विभाव से स्वभाव में आना ही आत्मा में आना है। आत्मा में ही निरन्तर बने रहने का नाम ही वीतरागता है, ऐसा हम कह सकते हैं। मोक्ष जाने वाली प्रत्येक आत्मा को इसी मार्ग से गुजरना होता है। गजसुकुमाल मुनि भी इच्छाओं का अन्त करके निर्ग्रन्थ बने और मुक्ति का वरण किया। हम भी करे इच्छाओं का अन्त, बनें सच्चे निर्ग्रन्थ।

29.08.2000

5. पाएं सुन्दर शीतल छांव

आत्मा के स्वरूप का बोध कैसे किया जाए यह एक विचारणीय प्रश्न है। आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति बहुत आगे का विषय है। अनुमान, प्रमाण से उस आत्मा के अस्तित्व का बोध किया जा सकता है। लक्षणों के आधार पर उसकी पहचान की जा सकती है। पानी के स्वभाव से पानी का भी बोध होता है। अग्नि के स्वभाव से अग्नि का बोध किया जा सकता है कि अग्नि ऊष्ण है। यदि हाथ पर अंगारा रखा जाए तो अंधा व्यक्ति भी बतला सकता है कि आग मेरे हाथ पर रखी गई है। वैसे ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप - ये आत्मा के लक्षण हैं और इन सब लक्षणों में आगे जो लक्षण बताए गए हैं उनमें वीर्य का नाम भी आता है। वीर्यशक्ति का दूसरा नाम पुरुषार्थ और पराक्रम भी है। वह स्वयं आत्मा की शक्ति है, किन्तु उस पर भी आवरण होता है। सूर्य अपने आप में सूर्य है, बादलों की ओट में उसकी तेजस्विता हम तक नहीं पहुँच पाती, परन्तु बादलों की ओट से सूर्य की तेजस्विता समाप्त नहीं होती है, किन्तु सूर्य की तेजस्विता हम तक नहीं पहुँच पाती है। वैसे ही कर्मों के आवरण से आत्मा की तेजस्विता समाप्त नहीं हो जाती, किन्तु इस तेजस्विता का हम अपने भीतर अनुभव नहीं कर पाते हैं। परन्तु आत्मा की तेजस्विता से कर्मों का आवरण विदीर्ण होने लगता है, हटने लगता है, दूर होने लगता है और हमारा पौरुष, हमारी शक्ति जागृत हो जाती है।

प्रभु महावीर की शक्ति भी पहले उसी प्रकार से आवरित थी। साधना का प्रभाव बढा तो कर्मों का आवरण क्षत-विक्षत हो गया। बादल कितने ही गहरे हो जाएं, किन्तु तेज हवा यदि चल जाए तो तेज हवा उन बादलों को तितर-बितर कर देती है, हटा देती है। वैसे ही यदि हमारी साधना की हवा, हमारे अध्यवसायों की दृढता अगर प्रचण्ड रूप धारण कर ले तो कर्मों के बादलों को खिसकने में देर नहीं लगती। आवश्यकता है अध्यवसाय को प्रचण्ड वेग देने की। जव तक वेग उत्पन्न नहीं कर

पाते हैं, अध्यवसायों के वेग को प्रचण्डता नहीं दे पाते हैं तब तक बादल बने रहते हैं। आज तो आपको उतना अनुभव नहीं हो रहा होगा, किन्तु एक-दो दिन पहले आपको लगा होगा कि काफी उमस हो रही है। उमस क्यों होती है ? बादल होते हैं और हवा नहीं होती है तो उमस हो जाती है। वैसे ही हमारे कर्मों के बादल घिरे हुए हैं और अध्यवसायों की हवा सही नहीं चले तो व्यक्ति अपने भीतर उमस महसूस करने लगता है। उसको भीतर ही भीतर घुटन महसूस होने लगती है। यह घुटन तभी होती है जब अध्यवसायों की निर्मलता नहीं होती है अथवा अध्यवसायों की प्रचण्डता नहीं होती है। तब इन अध्यवसायों के द्वारा आगे नहीं बढ़ें तो भीतर घुटन महसूस होने लगती है और व्यक्ति हताश और निराश हो जाता है। घुटन से व्यक्ति टूट भी जाता है। क्या कारण है ? कारण एक ही है- कर्मों का आवरण बना हुआ होता है, उमस बनी हुई होती है और भीतर के अध्यवसायों का वेग सम्यक्‌रूप से कार्यरत नहीं होता है। यदि हम कर्म के आवरण को दूर नहीं कर पा रहे हैं तो अध्वयसायों को तीव्र बनाएं। यदि अध्यवसाय तीव्र हो गए और अध्यवसायों की हवा चलने लग गई तो कर्मों के आवरण को भी समाप्त किया जा सकता है, उसे हटाया जा सकता है।

इस पर्व पर्युषण की अनोखी महिमा है और इस पर्व पर जिन उत्तम महापुरुषों का चरित्र आपके सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है, उनमें एक है गजसुकुमाल मुनि, जिन्होंने अपने अध्यवसायों के वेग से सारे घनघाती बादलों को तितर-बितर कर दिया था और अपने घनघोर प्रयासों से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लिया था। केवल गजसुकुमाल मुनि की आत्मा ही नहीं, ऐसे अनेक महापुरुष हैं जिनका वर्णन अंतकृतदशासूत्र के माध्यम से चल रहा है। आज भी आपने सुना होगा जालिकुमार एवं मयालिकुमार आदि के बारे में। वे भी दीक्षित हुए और जब जालिकुमार व मयालिकुमार को दीक्षित किया गया तो कृष्ण वासुदेव का मन भी उद्वेलित हो गया। उन्होंने विचार किया ये छोटे-छोटे राजकुमार हैं और इन सबको धर्म की बात लग जाती है जबकि मैं इतनी बार भगवान के समीप आ चुका हूँ, इतनी बार भगवान की वाणी सुन

चुका हूँ, फिर भी अब तक मेरे भीतर वैराग्य का भाव प्रकट नहीं हो रहा है। उनका मन बहुत खिन्न हो गया, उद्वेलित हो गया, मन में जैसे उमस होने लगी, घुटन-सी होने लगी। उनकी उस अवस्था का अनुभव अरिष्टनेमि भगवान ने किया। उन्होंने कृष्ण वासुदेव को समाधान देते हुए कहा- वासुदेव ! तुम्हारे मन में जो यह एक भावना जागृत हो रही है, तुम्हारे अध्यवसायों में जो यह एक विचारणा पैदा हो रही है कि जालि-मयालि आदि राजकुमार तो दीक्षित हुए, किन्तु पता नहीं मेरे कौन-से कर्म आड़े आ रहे हैं, पता नहीं मेरे कौन-से पिछले कर्म बने थे जो मैं संयम जीवन को स्वीकार नहीं कर पा रहा हूँ। जो ऐसे विचार मन में आये, उसका कारण है कि कृष्ण जितने भी वासुदेव जन्म लेते हैं वे निदानपूर्वक होते हैं अर्थात् पहले उनका यह संकल्प होता है कि मेरी साधना का यदि कोई प्रभाव हो तो मैं वासुदेव का स्वरूप प्राप्त करूँ, अपने पूर्वजन्मों की साधना को वे एक वासुदेव का भव प्राप्त करने के लिए दांव पर लगा देते हैं। इसलिए वे यहाँ पर वासुदेव तो बन जाते हैं, किन्तु उनका इतना पौरुष नहीं जग पाता कि वे संयम की छांव को स्वीकार कर सकें।

परन्तु जो शक्तियाँ कृष्ण वासुदेव में नहीं थीं वे शक्तियाँ आज के इन मानवों में रही हुई हैं। वे चाहें तो अपनी उस शक्ति का जागरण कर सकते हैं। हनुमानजी जब सीताजी की खोज में निकले और सामने समुद्र आ गया तो सब को बेचैनी होने लगी कि अब इसको कैसे पार किया जाए ? तब जामवंतजी ने कहा- "हनुमानजी, आपके भीतर बड़ी शक्ति है और आपके पिता पवन हैं। आप इस शक्ति को जागृत करो। किन्तु आपकी शक्ति के साथ में एक शाप भी लगा हुआ है और वह शाप यह है कि आपको अपनी शक्ति स्वयं याद नहीं आएगी, यदि कोई दूसरा याद दिलाएगा तो वह शक्ति जागृत हो जाएगी।" हमारे साथ भी कभी ऐसा ही होता है। महाराज थोड़ी मनुहार करें, हमें अपनी प्रकृति और क्षमता की याद दिलाएं तो कुछ त्याग-तपस्या हम भी कर लें। हमारा स्विच ऑन कर दें तब तो हम सामायिक कर लें, नियम कर लें, पौषध कर लें। महाराज कहें ही नहीं तो कैसे करें ? हम तो गए थे, महाराज ने कहा ही नहीं कि सामायिक करो। महाराज ने कहा ही नहीं कि उपवास

करो। जब महाराज ने कहा ही नहीं तो कैसे करें ? जरा इस स्थिति पर विचार करें ! आप किसी के यहाँ भोजन करने चले जाएं, किन्तु सामने वाला मनुहार ही नहीं करे तो क्या करेंगे? भोजन किए बिना कैसे चले जाएंगे ? भूख तो लगी हुई है, परन्तु सामने वाला कह ही नहीं रहा है तो भोजन कैसे करें ? ऐसे विचार वहाँ तो ठीक भी हो सकते हैं, परन्तु जब सन्तों के स्थान पर, धर्म के स्थान पर ऐसे विचार करते हो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वैसे तो सबको आमन्त्रण दिया जा चुका है और पावणा-पेही सहित, यह आपने ध्यान रखा या नहीं, पर पर्व पर्युषण प्रारम्भ होने के पहले यह बात आपको ध्यान दिलाई गई थी कि इन आठ दिनों में घर का कोई भी सदस्य संत-दर्शन से वंचित न रहे। यदि एक महीने का बच्चा हो तो वह भी संत-दर्शन का लाभ उठाए और कोई शतक पार कर गया हो और वह बिना सहारे के आने की स्थिति में नहीं हो तो उसे भी संत-दर्शन का लाभ प्राप्त करवाया जाए। इसलिए आमंत्रण-निमंत्रण में कहीं कोई कमी नहीं है। यह बात अलग है कि कोई बार-बार मनुहार की आवश्यकता समझता हो और उतनी मनुहार नहीं हो पाई हो तो वह भी बतला देना कि कितनी बार क्या मनुहार होनी चाहिए ?

मैंने पहले भी कहा था कि जयपुर के लिए मैं नया हूँ, साधु बनने के बाद पहली बार आने का प्रसंग बना है इसलिए यहाँ के रीति-रिवाजों की मुझे जानकारी नहीं है। मेवाड़ में तो दो-तीन मनुहार के बाद आदमी ढीला हो जाता है। पहली बार कहते ही नहीं बैठता, यह मेवाड़ की रीति है। कोई जीमणे चला जाए, पेट में चूहे दौड़ लगा रहे हों, पर पहली बार कहते ही नहीं बैठता। परन्तु दूसरी बार, तीसरी बार कहने लग जाएं तो कहेगा- "भूख नहीं है !" पर तीन बार आपने आग्रह कर लिया है, संघ की बात भी है, तो माननी ही पड़ेगी। तीन बार कहने के बाद भोजन करने को लिए तैयार हैं। किन्तु जयपुर की बात क्या है, मुझे पता नहीं है कि कितनी बार कहने पर भोजन करने की तैयारी करेंगे। वैसे जयपुर के लिए यह कहा जाता है कि यह जिनवाणी का रसिक क्षेत्र है और यहाँ पर वीतराग वाणी को सुनने के लिए व्यक्ति और श्रावकों का

मन-मयूर तैयार रहता है। जैसे ही जिनवाणी की गाज होती है, उनका मन-मयूर नाचने लगता है, खिलने लगता है, हर्षित होने लगता है। जिनवाणी की रुचि की बात स्व. महापुरुष माधवमुनिजी ने कही थी। उनके मुखारविन्द से यह बात कही गयी थी। उनका अनुभव रहा था कि यह क्षेत्र जिनवाणी का रसिक है। ऐसा उन्होंने अनुभव किया था और मैं भी अनुभव कर रहा हूँ। जिन व्यक्तियों ने जिनवाणी के रस का घूँट ले लिया है, उनको तो उसका रस सुहाता है, किन्तु जो भाई परवैया होते हैं उनके लिए हो सकता है कई प्रकार की लाचारियाँ हों, किन्हीं को अपनी रोजी-रोटी की आवश्यकता होती है, किन्हीं को व्यापार की चिन्ता रहती है, किन्हीं की और कोई स्थिति रह सकती है। किन्तु बन्धुओं ! यदि मूल को पकड़ लिया तो कोई भी स्थिति हो, अपने-आप सही हो सकती है।

इन सब के मूल में पुण्य की अवस्था होती है और यदि वह संचित हो गया तो वह फलेगा और उसका आपको लाभ मिलेगा, इसमें शंका की बात नहीं है। किन्तु कई बार हम टहनी और पत्तों को देखने लग जाते हैं, मूल को भूल जाते हैं। एक किसान की तबीयत थोड़ी नरम हो गई तो उसने अपने पोते से कहा कि आज मैं जा नहीं पा रहा हूँ इसलिए तुम पौधों को पानी पिला देना। उसने कहा- ठीक है। अब संयोग ऐसा बना कि किसान को टायफाइड हो गया और वह एक महीने तक नहीं जा पाया। फिर 27 दिन का टायफाइड व 27 दिन की कमजोरी। टायफाइड होता है तो उतने ही दिन कमजोरी भी मार करती है। जब 27 और 27 अर्थात् 54 दिनों तक वह नहीं जा सका और फिर उसके बाद बगीचे में गया, खेत में गया, तो देखा कि पौधे कुम्हलाये हुए थे सूख रहे थे ! तब उसने अपने पोते से कहा- "मैने तुम्हें पानी पिलाने के लिए कहा था ना ?'' पोते ने कहा- ''मैं रोज पानी पिलाता हूँ किन्तु ये भी बड़े अजीब हैं, बड़े नखराले हैं, आप से तो पानी पी लेते हैं और मेरे से पानी पीते ही नहीं हैं। रोज मुँह चढा ही रहता है।" किसान ने पूछा कि ऐसी क्या बात है तो उसने कहा- "मैं बड़े बर्तन में पानी भरकर लाता था और इनके फूलों में, इनके पत्तों में ऐसे ले-लेकर बहुत समय तक खड़ा रहता था, किन्तु पानी का बर्तन भरा का भरा ही रह जाता था और ये पेड़-पौधे पानी पीते ही नहीं थे। क्या पेड़-पौधों को पानी इस तरह

पिलाया जाता है ? यदि आपको कोई कह दे कि इन पौधों को पानी पिलाना है तो आप कैसे पिलाएंगे ? आप तो ऐसे नहीं पिलाएंगे ? कैसे पिलाएंगे क्या पता ? इसलिए आप यह मत सोच लेना कि पढे-लिखे सारे विद्वान् हो जाते हैं, पढे-लिखे मूर्खों की भी दुनिया में कमी नहीं है।

कृषि विभाग का एक अधिकारी, जिसका ट्रान्सफर हो गया था, वह गाँव में आया और उसने किसानों से कहा- "देखो, जब तुम्हारी फसल पक जाए तो फसल मुझे दिखाए बिना, मुझे सूचना दिए बिना कटनी नहीं चाहिए।"

उत्तर मिला- "ठीक है साहब।" फसल जब तैयार हो गई, पक गई, तब गाँव के किसानों ने जाकर कहा- "हुजूर हमने खेत में आलू बोए हैं और फसल तैयार हो चुकी है, आप सर्वे कर लीजिए।" वे सर्वे के लिए पहुँचे, लेकिन खेतों में कहीं पर भी पौधों में आलू लगे हुए नहीं देखे। आलू तो उसने बाजार में देखे थे, घर में आलू का साग खाया था, इसलिए वह जानता था कि आलू कैसा होता है। पर गांव में एक भी खेत में पौधों पर आलू लगे हुए नहीं देखे। वह कहने लगा, "मूर्खो, यह क्या बदतमीजी है ? यह क्या मजाक कर रहे हो ? कहते हो कि फसल पक गई, फसल तैयार है, पर अभी आलू तो आए ही नहीं हैं, आलू तो पौधों पर लगे ही नहीं हैं।" किसान बेचारे माथा पकड़कर बैठ गए कि यह मूर्ख है या हम हैं, किसको मूर्ख मानें ? जब ऐसा पढा-लिखा मूर्ख सामने आ जाए तो क्या किया जाए ? किसी ने हिम्मत करके कहा कि हुजूर पौधों पर आलू नहीं आते हैं। आलू तो जमीन में होते हैं। ऐसे लोगों के पी.ए. ही उनके काम चला पाते हैं।

मैंने सुना है कि भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने अपने भाषण में एक बार कहा था कि लाल मिर्च की कमी हो गई है इसलिए आप अपने खेतों में लाल मिर्च बोएं। उन्हें पता ही नहीं था कि लाल मिर्च कब आती है। क्या लाल मिर्च की खेती अलग होती है ? खेती तो हरी मिर्च की ही होती है। आपको पता है, लेकिन भारत के प्रधानमंत्री को पता नहीं था।

एक बार स्वामी विवेकानंद विदेशों में व्याख्यान कर रहे थे उनसे एक स्टूडेन्ट ने कहा कि मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। उन्होंने

कि पूछो। उसने पूछा- "क्या आप सबकुछ जानते हैं ?" एक क्षण विवेकानन्द रुके। दूसरे क्षण उन्होंने जवाब दिया- नहीं, मैं सबकुछ नहीं जानता। वे भांप गए थे कि यदि मैंने कह दिया कि मैं सबकुछ जानता हूँ तो स्टूडेन्ट का अगला प्रश्न होगा कि हल कैसे चलाया जाता है ? विवेकानन्द ने कहा कि यदि आप मुझसे पूछ लें कि हल कैसे चलाया जाता है ? खेती कैसे की जाती है ? तो यह मैं नहीं जानता, किन्तु यदि आप मुझसे वेद की कोई बात पूछते हैं, तो उस सम्बन्ध में मेरा अधिकार है, मैं उस सम्बन्ध में बता सकता हूँ। जरूरी नहीं है कि एक व्यक्ति सबकुछ जान ले और यह सम्भव भी नहीं है। यह सम्भव हो सकता है सर्वज्ञ की अवस्था में। नहीं तो गौतम स्वामी आनन्द श्रावक के घर गए और उसको दर्शन दिया। आनन्द श्रावक ने कहा- "मुझे अवधिज्ञान हो गया है, मैं चूल हिमवंत पर्वत तक देख रहा हूँ।" गौतम स्वामी ने कहा- "आनन्द, इसकी आलोचना कर। तुम संथारे में चल रहे हो, संलेखणा में चल रहे हो, मिथ्या बात नहीं कहना। श्रावक को अवधिज्ञान हो सकता है, किन्तु इतना विशाल अवधिज्ञान नहीं हो सकता।" आनन्द ने पूछा- "जिनशासन में आलोचना सत्य की होती है या असत्य की ?" उत्तर मिला- "असत्य की होती है। यथार्थ की आलोचना नहीं होती है, अयथार्थ की होती है।" तो उसने कहा कि भगवान, इस विषय की आलोचना आप कीजिए। गौतम स्वामी भगवान के पास पहुँचे। भगवान महावीर ने आनन्द की बात को सत्य बताया और गौतम से कहा कि तुम्हें आनन्द से क्षमायाचना करनी चाहिए। गौतम स्वामी ने आलोचना भी की और क्षमायाचना के लिए भी पहुँचे। कहने का आशय है कि एक व्यक्ति सम्पूर्ण ज्ञान का अधिकारी नहीं होता है, जब तक कि सर्वज्ञ नहीं बन जाए, क्योंकि कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई अवस्था तो उससे छुपी हुई रहती ही है। इसीलिए तो औदायिक भाव रूप अज्ञान बारहवें गुणस्थान में भी हमारी आत्मा के साथ लगा रहता है। बारहवें गुणस्थान में आत्मा ज्ञानी होती है। पर अज्ञान भी उसमें होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जो ज्ञान ढका हुआ है, वह अज्ञान है। जो ज्ञान प्रकट नहीं हुआ है, वह भी अज्ञान है और जो विपरीत ज्ञान है, वह भी अज्ञान है। अल्पज्ञान भी अज्ञान जाता है। औदायिक भाव रूपी अज्ञान वीतराग अवस्था में भी मौजूद

रहता है। तेरहवें गुणस्थान में अज्ञान रंचमात्र भी मौजूद नहीं रह सकता है। इसलिए सर्वांश का ज्ञान सर्वज्ञ को हो सकता है। वीतराग को भी नहीं। ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान वाले वीतराग तो हैं, पर सर्वज्ञ नहीं हैं। इसलिए सर्वज्ञता के अभाव में कोई व्यक्ति पूर्ण ज्ञाता नहीं हो सकता। स्वामी विवेकानंद ने कह दिया कि मैं सबकुछ नहीं जानता, वेद की बात आप यदि मुझसे पूछें तो मैं बता सकता हूँ, लेकिन आप खेती की बात पूछें, हल चलाने की बात पूछें तो मैं नहीं बता सकता। यदि कोई खेत का अधिकारी है, कृषि अधिकारी है तो उसे कृषि का, खेती का ज्ञान होना चाहिए, यदि उसे इनका अच्छा ज्ञान नहीं है और उसे ऐसे किसी महकमे में स्थापित कर दिया जाए तो ऐसी स्थापना कभी-कभी दुःखदायी हो जाती है, इसलिए चिंतन करने की आवश्यकता है।

कृष्ण वासुदेव स्वयं कहते हैं कि मेरे अन्दर वह संयम प्रकट क्यों नहीं होता है तो भगवान अरिष्टनेमि बताते हैं कि तुम्हारे भीतर ताकत जरूर है, लेकिन तुम ताकत को गिरवी रख चुके हो। गिरवी रखना जानते हैं ? एक चीज तुम्हारी है, लेकिन गिरवी रखी हुई है। गिरवी रखी हुई चीज यद्यपि तुम्हारी है, किन्तु फिर भी तुम उसका उपयोग कर पाओगे कि नहीं कर पाओगे, यह तय नहीं है। कृष्ण वासुदेव की वह शक्ति तो गिरवी रखी हुई थी, किन्तु तुम्हारी शक्ति तो तुमने गिरवी रख नहीं रखी है। फिर तुम अपनी उस शक्ति का प्रयोग क्यों नहीं कर सकते ?

यदि संयम के लिए अभी शक्ति जागृत नहीं है तो उसकी दलाली तो कर ही सकते हैं। कृष्ण वासुदेव ने धर्म की दलाली की थी।

'करी धर्म दलाली, गौत्र तीर्थंकर बांध्यो कानजी।'

बन्धुओं ! देखिए, कृष्ण महाराज, जो साधु नहीं बन सके, किन्तु धर्म-दलाली करके उन्होंने क्या प्राप्त कर लिया ? साधु ही नहीं, आने वाले समय में साधुओं के सिरमौर बनेंगे; देव ही नहीं देवाधिदेव बनेंगे। किस कारण से ? धर्म दलाली के कारण से। हमारे मुँह से आवाज ही नहीं निकल रही है। क्या सभी पंचोले करके बैठे हैं ? पंचोले करके बैठे हैं तो मैं नहीं बुलाऊंगा, लेकिन सबने नाश्ता किया है कि नहीं ? थोड़ा-सा बोलोगे तो पेट हल्का हो जाएगा। पेट हल्का हो जाएगा एकासना, आयम्बिल भी करेंगे तो वह भी हो जाएगा, दो रोटी कम

काम चला तो ऊनोदरी का लाभ हो जाएगा। भूख के बिना दो रोटी कम खाऐंगे तो ऊनोदरी नहीं है, भूख कम है तो उससे भी कम खाएंगे तो ऊनोदरी का लाभ मिल जाएगा। अन्य कुछ भी नहीं हुआ तो गुणीजनों के गुण गाने से कर्म-निर्जरा का लाभ तो मिल ही सकता है। उत्कृष्ट रसायन आ जाए तो भावी तीर्थंकर का पद भी मिल सकता है।

बंधुओ ! कृष्ण वासुदेव के मन की भावना और धर्म-भावना इतनी प्रबल हो गई कि उन्होंने कुछ कर डालने का संकल्प कर लिया। वे सोचने लगे कि मैं यदि साधु नहीं बन सकता तो दूसरों का हित तो कर ही सकता हूँ। मैं मिठाई नहीं खा सकता, लेकिन मेरे हाथों से दूसरे को मिठाई खिलाई तो जा सकती है।

एक बार देव-दानव सारे एक साथ मिल गए। दानवों ने भी देवों का रूप बना लिया और उनके साथ घुलमिल गए। अब देव सोचने लगे- क्या करें, कैसे दानवों को पहचानें और कैसे उन्हें निकालें ? आज अगर बांग्लादेश के शरणार्थी भारत के नागरिक बनकर रहने लगें तो उनकी अब कैसे पहचान हो ? वे लाखों की संख्या में बाहर से आकर भारत में रह रहे हैं, उनकी पहचान नहीं हो पाती है। वैसे ही देवों के साथ दानव मिल गए और उनकी पहचान मुश्किल हो गई। तो वे पहुँच गए ब्रह्माजी के पास और कहने लगे कि हमारी रक्षा कीजिए, नहीं तो हम मारे जाएंगे। वे हमारी इज्जत-आबरू लूट लेंगे, हमारी धन-सम्पत्ति और हमारे अधिकार लूट लेंगे। ब्रह्माजी ने उन्हें आश्वस्त किया और कहा- सारी व्यवस्था हो जाएगी। उन्होंने एक बहुत बड़े भोज का आयोजन किया। देव तथा दानव सब एक साथ बैठ गए। वे एक-दूसरे के सामने, एक-दूसरे की ओर मुँह करके बैठ गए। सबके हाथों में बांस के डंडे बांध दिए गए, जिससे उनके हाथ मुड़ें नहीं। थाली में तरह-तरह के व्यंजन परोस दिए गए। सभी के सामने समस्या उत्पन्न हो गई। खाएं तो कैसे खाएँ ? कहते हैं, जो देव थे उनके मन में आया कि स्वयं नहीं खा सकते तो क्या हो गया, दूसरे को तो खिला सकते हैं। इधर वाले ने उधर वाले के मुँह में और उधर वाले ने इधर वाले के मुँह में निवाला दिया। इस प्रकार जो देव थे वे तो भोजन करके उठ गए और जो दानव थे वे भूखे रह गए। बस, उनकी ...चान हो गई। वैसे ही अगर आप भी देव बनना चाहते हो तो समझ लो

कि खाने वाला व्यक्ति एकाएक देव बने या नहीं, लेकिन खिलाने वाला देव बन सकता है। हमारा सिद्धान्त भी खिलाने में विश्वास करता है। आपके बारहवें व्रत में अतिथि संविभाग की बात कही गई है। वह मुख्यतः साधु के लिए कही हुई है, लेकिन केवल साधु की नहीं है। अगर इसका दृष्टांत या शास्त्रीय प्रमाण चाहिए तो तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन उठाकर देख लीजिए। उसमें बतलाया गया है कि तुंगिया नगरी के श्रावकों के द्वार दान के लिए खुले रहते थे। कोई भी गरीब याचक उनके यहाँ आ सकता था। वह खाली नहीं लौटता था। आज अगर कोई आ जाए तो भीतर से ही आवाज आएगी कि निकल-निकल। पहली बात तो उसे घर में ही नहीं घुसने देंगे और यदि घुस भी गया तो उसे निकलने को बाध्य किया जाएगा। भगवान महावीर के युग में भी ऐसी घटनाएँ घटी हैं। भगवान महावीर शालिभद्र मुनि से कहते हैं- "तुम तुम्हारी माँ के हाथ का पारणा करोगे और तब उन्होंने सोचा कि जब माँ के हाथ का ही पारणा करना है तो फिर इधर-उधर क्यों घूमें, सीधे माँ के पास ही पहुँचो।" यदि कथा याद नहीं है तो सुन लीजिए। शालिभद्र को जिस माता के घर में पाला-पोसा गया था और जिस घर में उसने ऐश्वर्य का अनुभव किया, उसी माता भद्रा के द्वार पर वे पहुँचते हैं। जिस समय वह शालिभद्र था उस समय उसके शरीर की रौनक कुछ और ही थी, परन्तु जब उसने साधु बनकर, तपस्या करके शरीर से ममत्व को समाप्त कर दिया और कर्मों के आवरण को विदीर्ण करने में लग गया तब उसका शरीर शुष्क काष्ठ जैसा बन गया था इसलिए अब जब वह वहाँ पहुँचा तो द्वारपालों ने उन्हें रोक दिया। कहा- अंदर कहाँ जा रहे हो ? अन्दर प्रवेश निषेध है। जो शालिभद्र एक समय उस घर का स्वामी रहा हुआ था, आज उसे उसके द्वारपालों ने रोक दिया। उस समय शालिभद्र मुनि को यह कहना चाहिए था कि क्या समझता है तू अपने-आप को ? तू जानता है मैं कौन हूँ ? लेकिन शालिभद्र के मन में ऐसी भावना नहीं आई। भगवान ने कहा था कि माँ के हाथ का पारणा होगा। भगवान के प्रति श्रद्धा थी। इसलिए सोच नहीं पा रहे थे कि आगे चले या नहीं चले। कई कथाओं में ऐसा भी आता है कि दूसरी बार प्रयोग करते हैं और दूसरी बार भी धक्का खाते हैं। यानी दूसरी बार भी भीतर प्रवेश नहीं हो पाता है। तब [illegible]

बार-बार जाना ठीक नहीं है। फिर दूसरी बार भी क्यों गए ? भगवान ने कहा था कि तुम्हारे माँ के हाथ का पारणा होगा। इसलिए चले गए, पर बार-बार जाना उचित नहीं लगा। जब वे लौटने लगे तब रास्ते में एक ग्वालन मिली। वह मुनि से कहने लगी- "कैसा मुझे योग मिला है !, मेरे हाथ में गौरस है, आप कृपा करें।" उन्होंने सोचा कि माँ के भरोसे रहे तो इसकी भावना को पूरा नहीं कर पाएँगे, इसकी भावना को पूरा करना भी आवश्यक है। अतः उन्होंने वहीं पातरे रखे और भिक्षा ले ली। फिर भगवान महावीर के पास चले गए। भगवान ने पूछा- शालिभद्र, क्या तुम्हारे मन में यह विचार आया था कि भगवान ने कहा था कि माँ के हाथ का पारणा होगा और मुझे तो ग्वालिन के हाथ का दूध मिला है ? फिर उन्होंने बताया कि वह ग्वालिन पूर्वभव में तुम्हारी माता रही है। उस ग्वालिन के यहाँ तुमने जन्म लिया था, वहाँ से शालिभद्र बने। वह पूर्वभव की माता है और उसी के हाथ से तुम्हारा पारणा हुआ है। इस प्रकार बड़े-बड़े सेठों के यहाँ तो द्वारपाल रास्ता रोककर खड़े हो जाते हैं, पर सामान्य व्यक्ति के यहाँ पारणा हो जाता है। वे सेठ इस लाभ से भी वंचित रह जाते हैं और छोटे लोग लाभ उठा लेते हैं जैसे एक ग्वालिन को पुण्य मिल गया था।

बात समझने की है। कृष्ण वासुदेव ने विचार कर लिया कि मैं स्वयं तो मिठाई नहीं खा सकता हूँ पर दूसरों को तो खिला सकता हूँ। उन्होंने उद्घोषणा करा दी कि कोई भी व्यक्ति, स्त्री या पुरुष, यदि वह संयम स्वीकार करना चाहता है और उसे किसी प्रकार की कोई अड़चन है तो वह घबराए नहीं, उसकी अड़चन मैं दूर करूँगा। यदि किसी के पिता वृद्ध हैं और उनकी सेवा के लिए उसकी आवश्यकता है तो उनकी सेवा की जवाबदारी मेरे ऊपर है। किसी का अबोध बालक है और उसको चिन्ता है कि उसकी देख-रेख कौन करेगा, तो उसकी जवाबदारी भी मेरे ऊपर है। मैं उसकी देख-रेख करूँगा, मैं ध्यान रखूंगा कि उसकी पढाई-लिखाई की उचित व्यवस्था हो और बाद में उसके धन्धे-व्यापार की जवावदारी भी मेरी रहेगी। यदि किसी की सास बीमार है और बहू दीक्षा लेती है तो उसकी सास की व्यवस्था भी मैं करूँगा और उसकी रोटी की व्यवस्था भी मैं करूँगा। कोई किसी अड़चन के कारण संयम

लेने में रुक रहा हो तो वह रुके नहीं, मैं उसकी सभी अड़चनें दूर कर दूँगा, वह संयम स्वीकार करे। कृष्ण वासुदेव की इस घोषणा से संतुष्ट होकर बहुत-सारे व्यक्तियों ने अरिष्टनेमि भगवान के चरणों में संयम स्वीकार किया। यह वात औरों तक ही सीमित नहीं रही। कृष्ण वासुदेव की महारानियाँ, अग्रमहिषियाँ और पटरानियाँ भी संयम लेने की भावना से कृष्ण वासुदेव के पास पहुँची। हालांकि उनका उनके प्रति वड़ा अनन्य भाव था, चाहे वह सत्यभामा हो, रुक्मणि हो, पद्मावती हो या और कोई हो। शास्त्रकार स्वयं कहते हैं कि कृष्ण वासुदेव अरिष्टनेमि भगवान से कहते हैं कि भगवान यह पद्मावती है। इसका नाम गौत्र-स्मरण ही दुर्लभ है, दर्शन तो और भी दुर्लभ हैं। जिसका नाम भी सुनने को नहीं मिले, ऐसी यह पद्मावती है। कृष्ण वासुदेव को उससे असीम प्यार था, किन्तु फिर भी जव वह संयम स्वीकारने की तैयारी में आ जाती है तो कृष्ण वासुदेव मोह के पलीते और कर्मों के आवरण के वंधन में नहीं आते अपितु कहते हैं- अहा सुहं देवाणुप्पिया। तुमने साधु वनने का पक्का विचार कर लिया है तो मेरी तरफ से तुम्हें आज्ञा है। बोलिए कौन-कौन आगे बढ़ रहा है ? आज प्रयोग कर लीजिए कि आज जो व्यक्ति यहाँ पौषध, संवर, दया में रह जाएंगे और उनकी श्रीमतियां यहीं हों, जो घर की मालकिन हों, तो यहाँ उनसे वात कर लेना और वे वहनें श्रावकों से वात कर लें और घर पहुँचे तो कम से कम यह विचार कर लें कि या तो तुम मुझे आज्ञा दे दो नहीं तो मैं तुम्हें आज्ञा दे दूँगी। कम से कम आज आप घर के सदस्य से यह कह देना कि कोई भी दीक्षा लेना चाहे तो मेरी स्वीकृति है।

वंधुओ ! ध्यान रखियेगा, वहनें साक्षात् शक्ति हैं। यदि वे विचार कर लें और मन में संकल्प कर लें कि आपको संतों के यहाँ दर्शन करने जाना है तो क्या आप रुक सकते हैं ? रतनवाईजी सेठिया, जो राजेशमुनिजी की संसारपक्षीय दादीजी हैं, उन्होंने संकल्प कर लिया कि जव तक पूरा परिवार एक साथ में दर्शन नहीं करेगा तव तक मैं घी नहीं खाऊंगी। जहाँ तक मैं भूल नहीं पा रहा हूँ, अजमेर में संकल्प किया था, किन्तु अहमदावाद में पूरे परिवार के सदस्य गए और अनूपचंदजी ने तो 16 वर्ष के वाद दर्शन किए। उन्होंने संकल्प कर लिया था कि जव तक पूरे

परिवार के सदस्य एक साथ दर्शन नहीं करेंगे तब तक मैं घी नहीं खाऊंगी। तब जिन लोगों ने 16–16 साल से दर्शन नहीं किए थे, उनको भी दर्शन करने पड़े। ये बहनें विचार कर लें तो ऐसा हो सकता है और यदि इनके विचार कागजी रह जाएं तो बात अलग है। कृष्ण वासुदेव ने भी अपनी तरह से धर्म–दलाली का काम किया था। जब द्वारिका–विनाश की बात आई कि द्वारिका का विनाश होगा तो कृष्ण वासुदेव ने कहा कि विनाश होगा, इसलिए जिसको भी दीक्षा लेनी है, वह ले ले।

आपको यह याद होगा कि एक बार यह खबर फैल गई थी कि 9 ग्रह एक साथ हो रहे हैं। लोगों में हड़कम्प मच गया था। लोगों के मन में कुशंकाएँ उत्पन्न होने लग गईं थीं। लोग डर कर इकट्ठे होने लग गए थे और दान, पुण्य, धर्म–ध्यान में लग गए थे। 9 ग्रह हों या नहीं हों, लेकिन 8 ग्रह तो रोज लगे हुए हैं। हमारे ऊपर 8 ग्रह तो लगे हुए ही हैं। 8 ग्रह लगे हुए हैं तो भी हम रोज जी रहे हैं। 8 कर्मरूपी ग्रह लगे हुए हैं और नौवां पैसा, धन–सम्पत्ति का ग्रह जोड़ लें तो मान लो कि नौवां ग्रह भी लग गया। वैसे मोह–ममता भी आ सकती है, इनको कोई नौवां ग्रह माने तो भले ही बात अलग है, आठ ग्रह तो हमारे साथ लगे हुए ही हैं। इन आठों ग्रहों के चलते हुए नौवें ग्रह को शान्त कर लें तो क्लिष्ट भाव, क्लिष्ट दुख हमारे जीवन में नहीं आएंगे। यदि इन आठों ग्रहों की संतुष्टि नहीं की, इनकी पूजा–अर्चना नहीं की, धर्म–ध्यान नहीं किया तो ये आठों ग्रह उदित होंगे और आपको उनका उदय भयंकर परेशानी में डाल सकता है। घर में क्लेश की स्थिति पैदा हो सकती है, जीवन खतरे में पड़ सकता है, न जाने कैसी स्थिति बन सकती है, इसलिए जागने की आवश्यकता है।

बन्धुओं ! द्वारिका के नष्ट होने में मुख्य कारण थी मदिरा, इसलिए कृष्ण वासुदेव ने पूरी तरह मदिरा बंद करवा दी थी, कोई भी व्यक्ति द्वारिका में मदिरा–पान नहीं कर सकता था, जितनी भी मदिरा थी, जंगल में फिंकवा दी गई थी। किन्तु कहा गया है– "होनहार टाली न जाई", होनहार होकर रहती है, उसका निमित्त कोई–न–कोई बन जाता है। कई राजकुमार एक वार जंगल में पहुँचे। वहाँ पर उनको बहुत भयंकर प्यास लगी और वह मदिरा, जो जंगल में फिंकवाई गई थी और जो

चट्टानों पर लग कर सूख चुकी थी, वर्षा के पानी से घुल-घुलकर पानी के साथ वर्षा से बने तालाब में पहुँच गई थी। राजकुमारों ने वह पानी देखा, वे प्यासे थे, पीया तो बहुत स्वादिष्ट लगा और लोगों ने भी वही पानी पीकर प्यास बुझाई। उसका प्रभाव तो होना ही था। फिर मदिरा जो पुरानी हो जाती है वह बहुत ज्यादा मादक बन जाती है, उसे तो अपना प्रभाव दिखाना ही था। कभी किसी व्यापारी का कोई कर्जा पुराना हो जाए तो क्या वह छूट जाएगा ? पुराना हो जाएगा तो और ब्याज बढ जाएगा, वैसे ही पुरानी शराब थी, उसने सबको मदोन्मत्त बना दिया। उसी मदोन्मत्त अवस्था में उन लोगों ने द्वैपायन ऋषि की मार-पिटाई कर दी और उन्हीं द्वैपायन ऋषि के कारण कालांतर में द्वारिका नगरी के विनाश का प्रसंग बना।

आज भी जितने अपराध बढ रहे हैं उसका एक कारण शराब भी है। आप देख लीजिए, यदि वे लोग मदिरा नहीं पिये हुए होते तो द्वैपायन ऋषि पर आक्रमण नहीं करते, उन पर अत्याचार नहीं करते, लेकिन मदिरा के कारण अपराध वृत्ति उत्पन्न हो गई, जो पूरी द्वारिका को ले डूबी।

बंधुओ ! विचार कर लेना, पान-पराग, गुटका, तम्बाकू, जर्दा आदि जहर ही हैं। कोई-कोई कहते हैं कि मैं ज्यादा नहीं खाता, दो-चार दाने ही मुँह में डालता हूँ। तो बन्धुओं, मुझे उन लोगों की अक्ल पर तरस आती है। कैसी है उन लोगों की अक्ल ? अपने ही पैसे खर्च करके अपने ही मुँह में जहर डाल रहे हैं ! यह कैसी वणिक बुद्धि है ? बनिया तो ऐसा काम नहीं करता है। लेकिन आज के व्यापारियों की क्या बात कहें ? यदि आहार की समीक्षा ही कर ली जाए तो भी विचार का प्रसंग बन जाएगा। मैं अभी सारे पन्ने नहीं पलटना चाहता, उन पन्नों को पलटने लग जाऊं तो समय लग सकता है। मैं इस विषय में आगे नहीं बढ़ना चाहता, किन्तु क्या करूँ, ऐसे विषय इन आठ दिनों में मुख्य रूप से विचार करने के हैं। ऐसे विषयों की विवेचना करना, जैसे मदिरापान, जिसके कारण पूरी द्वारिका नगरी का विनाश हो गया था, क्या भारत के हित में है ?

इससे भारत की दशा बदल गई है। लोग संस्कारभ्रष्ट हो रहे हैं। दुर्व्यसन और कुव्यसन अपने पैर पसार चुके हैं। जीवनमूल्यों का विघटन

हो रहा है और आचार-विचार दूषित हो रहा है। बताया जाता है कि सती स्त्री श्रृंगार करती है तो केवल पति के लिए, पति की उपस्थिति में। पति की अनुपस्थिति में वह श्रृंगार नहीं सजाती है। किन्तु आज भारत की दशा ऐसी है कि पति यदि परदेश जाता है तो पीछे से पत्नी रगड़-रगड़ कर मुँह धोती है, अपने शरीर को धो-धो कर उजला बनाने की कोशिश करती है। यह समय का फेर है। समय के फेर से ही गौ की रक्षा करने वाले गौ-बेटी को बेच-बेच कर खा रहे हैं। श्रीकृष्ण वासुदेव ने कहा था कि कोई सुरा का सेवन नहीं करेगा, लेकिन आज भारत-भूमि में सुरा का प्रचार घर-घर और द्वार-द्वार हो रहा है। यह संतोष का विषय है कि जैन समाज आज भी इस कुव्यसन से बहुत-कुछ बचा हुआ है। कुछ प्रतिशत लोग हो सकते हैं जो सेवन करते हों। ऐसे लोगों के कारण पूरे समाज के बदनाम होने का प्रसंग रहता है। मैं सोचता हूँ कि यदि सर्वे किया जाए तो शराब पीने वाले और व्यसन करने वाले जैन समाज में नगण्य संख्या में मिलेंगे। यदि मिलेंगे भी तो 10 प्रतिशत से ज्यादा नहीं मिलेंगे जो सुरा-सुन्दरी और अन्य व्यसनों का सेवन करते हों। लोग 10 प्रतिशत बीमारी को देखते हैं, लेकिन 90 प्रतिशत गुणों को नहीं देखते हैं। 10 प्रतिशत के कारण हम अपना माथा नीचा कर लेते हैं, 90 प्रतिशत स्वस्थता के कारण अपने-आप को गौरवान्वित नहीं मान सकते हैं।

परन्तु यह चिन्ता का विषय है, क्योंकि यदि एक भी घुन लग जाता है, दीमक लग जाती है तो अन्य के लिए भी मार्ग खुल जाता है और चिंता का विषय बन जाता है पूरे परिवार को, पूरे समाज को बदनाम करने वाला बन सकता है। इसलिए बन्धुओं, सावधान रहें, जहाँ कहीं भी स्थिति ऐसी हो, किसी भी परिवार में, ऐसी कोई घटना हो, उसको आप अपने प्रयत्न से रोक न पाते हों तो आकर संतों के कान में धीरे-से इस बात को कह दें, लिख कर दे दें, संत प्रयत्न कर सकते हैं। अपने समझाने की शैली से उससे होने वाली हानियाँ उन्हें बता सकते हैं। उनके सामने उन हानियों का पूरा चित्रण किया जा सकता है। लेकिन कोई कहे कि मुझे तो पीनी ही है, तो उसको कोई रोक नहीं पाएगा, किन्तु फिर भी बचाव के कुछ उपाय तो आप कर ही सकते हैं। एक व्यक्ति सुधर जाता है तो उसकी मंडली के पाँच-पच्चीस व्यक्ति भी सुधर सकते हैं। ऐसा

एक व्यक्ति अपनी मंडली को सुधार लेता है। एक व्यक्ति से यदि शराब छुड़वाते हैं, माँसाहार का त्याग करवाते हैं, व्यसनों का त्याग करवाते हैं तो वह एक व्यक्ति ही त्याग नहीं करता, उसके प्रभाव से उसकी मण्डली भी धीरे-धीरे इन व्यसनों को छोड़ देती है। इसलिए प्रयत्न होना चाहिए कि जो भी दुर्व्यसनों के अन्दर फंसे हुए हों, उन्हें उनको छोड़ देने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए, उनके दुर्व्यसनों को दूर करने का प्रयत्न किया जाए। यदि आप धर्म-ध्यान का काम अपने हाथ में लेते हैं तो यह भी कोई छोटा काम नहीं है, यह बहुत मुद्दे का काम है। परिवार, समाज और राष्ट्र ही नहीं, मानव के सुधार का, मानव-सेवा में योगदान देने वाला काम बनता है। मानवता की रक्षा में जिसने भी योगदान दिया है वह पुरुष तीर्थंकर नामकर्म रूपी पुण्य प्रकृति का उपार्जन करने वाला भी बन सकता है। बंधुओ ! ऐसे योगदान की हमारे पास में शक्ति है, हम में भी ताकत है। हम अपनी शक्ति का उपयोग करें और एक व्यसनमुक्त समाज और व्यसनमुक्त राष्ट्र के निर्माण का प्रयास करें।

मैं एक बार रतलाम में था। पत्रकार कहने लगे कि यदि व्यसन बंद हो जाएंगे, पान-पराग, गुटके आदि बंद हो जाएंगे तो सरकार को जो करोड़ों रुपयों का राजस्व मिलता है वह राजस्व मिलना भी बंद हो जाएगा। अब देखिए, हमारी सोच कितनी बौनी है, कैसी सोच हमारे अर्थशास्त्रियों की है ? क्या सोचते हैं वे ? जितना करोड़ रुपया इनसे राजस्व कमाते हैं उसके मुकाबले कैंसर पर, शोध पर कितना रूपया लगता है। जितना रुपया राजस्व में नहीं मिलता है, उससे अधिक रुपया कैंसर के शोध में आज तक खर्च हो चुका है और निरन्तर हो रहा है। 10 में से 9 व्यक्ति तम्बाकू के कारण गले के कैंसर के बीमार बन जाते हैं। एक तरफ राजस्व कमाना चाहते हैं तथा दूसरी तरफ उसी राजस्व को कैंसर के शोध में खर्च करते हैं। साथ ही लोगों को बीमार बनाए रखने की हिमायत भी करते हैं। यह कैसी सोच है हमारी ? कैसा हमारा पागलपन है ? हमारी मति कहाँ चली गई है ? बंधुओ ! इस स्थिति पर चिन्तन करने की आवश्यकता है। अपने प्रयत्न से इन व्यसनों को दूर करके समाज में नई चेतना, जागृति, नई क्रान्ति का यदि हमने शंखनाद किया तो हम वस्तुतः जिनशासन की और मानवता की सेवा करने वालों

के सिरमौर बनेंगे। एक-एक व्यक्ति यदि सोच ले और कम से कम 5 व्यक्तियों को व्यसनमुक्त करने में सामर्थ्य लगाए तो उन्हें व्यसनमुक्त करके वह अपने-आप में शान्ति का अनुभव करेगा। ऐसा यदि प्रत्येक व्यक्ति संकल्प ले तो बहुत बड़ी संख्या में व्यक्ति व्यसनमुक्त हो जाएं, उनकी जिन्दगी सुधरे, समाज में शान्ति आए और बहुत-सी बहनें, जो अन्दर से घुटन महसूस करती हैं, उनको शान्ति मिले। चिन्तन करें, मनन करें, जैसा भी हो, कोई संकल्प जरूर करें। आपके मन में सद्विचार होंगे, हृदय में सद्भाव होंगे और उद्देश्य मानव-सेवा होगा, तो निश्चित मानिए, आपका हित तो होगा ही, पर्युषण पर्व की आपकी आराधना भी सफल होगी। आराधना को सफल बनाने में एक बात का ख्याल अवश्य रखना चाहिए कि आध्यात्मिक साधना को भौतिक पदार्थों के लिए विक्रय नहीं करें, जैसे कि श्रीकृष्ण वासुदेव की आत्मा ने पूर्व के भव में की थी। जिसे आगमिक भाषा में निदान कहते हैं। इसी तरह आत्मिक साधना में किसी तरह के मान-सम्मान, यश, प्रतिष्ठा और वैभव आदि की कामना को भी नहीं जोड़ना चाहिए। तभी सच्ची आराधना हो सकेगी और आत्मशान्ति की सुन्दर-शीतल छांव प्राप्त हो सकेगी।

30.08.2000

6. नष्ट प्रदूषण - सफल पर्युषण

बहुत-से व्यक्ति अपने घर में अगरबत्ती लगाते हैं, मुँह में अगरबत्ती लगाने वाले भी बहुत मिलेंगे। मुँह में अगरबत्ती लगाने वालों का उद्देश्य भिन्न होता है और घर में अगरबत्ती लगाने वालों का उद्देश्य भिन्न होता है। अगरबत्ती पूजा के लिए भी लगाई जाती है, परन्तु एक अगरबत्ती है जो मच्छरों को भगाने के लिए लगाई जाती है। अगरबत्ती घर के प्रदूषण को तो दूर करती ही है, वातावारण को सुगन्धित भी बनाती है। अगरबत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती हैं और उनके उपयोग के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, परन्तु आत्मा को भावित करने की अगरबत्ती कोई और ही होती है। आत्मा को भावित करने का तात्पर्य है अन्तर की मलिनता को दूर करना। क्षमा, मृदुता, स्वच्छता और सरलता की अगरबत्तियों से हमारा अंतर भावित होता है। क्षमा की, मृदुता की, स्वच्छता की और सरलता की अगरबत्तियाँ यदि लग जाएं तो देखिए हमारे भीतर का प्रदूषण कैसे समाप्त हो जाता है, कैसे वहाँ से उसकी सफाई हो जाती है। वस्तुत: हम जितना कुछ कहते हैं, जितना कुछ करना चाहते हैं, उतना करते नहीं हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में जीव के लक्षणों की चर्चा की गई है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य - इनको आत्मा का, जीव का लक्षण कहा गया है और उसी के साथ एक लक्षण कहा गया है उपयोग। उपयोग क्या है ? वैसे तो हम कहते हैं कि ज्ञान और दर्शन, ये ही उपयोग हैं, पर उपयोग के दूसरे प्रकार से भी दो भेद किए गए, वे हैं निराकार और साकार रूप। पर इसकी प्रवृत्ति क्या है ? जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, विश्व की जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सब में दो धर्म रहे हुए हैं- एक सामान्य और दूसरा विशेष। इन दोनों को जानने के लिए आत्मा के पास दो शक्तियाँ हैं- साकार और निराकार। इन दो शक्तियों से ही हम सम्पूर्ण वस्तुस्तोम को जान पाते हैं। इसलिए हमारी कोई भी प्रवत्ति हो, वह

उपभोगपूर्वक होनी चाहिए। हम चलते कहीं हैं और हमारा मन-मस्तिष्क कहीं और होता है। हम कार्य जयपुर में कर रहे होते हैं और हमारा मन मुम्बई-कोलकाता की हवा ले रहा होता है। ऐसा भी होता है कि बैठे हुए हैं लाल भवन में किन्तु हमारा मन लाल भवन में नहीं, किसी और भवन में रुका हुआ है। जब तक हम इसकी सही-तरीके से जानकारी नहीं कर लेते और उसे भी साथ नहीं कर लेते, तब तक आत्मा को भावित करना संभव नहीं है। अंतगडदशासूत्र का पर्व पर्युषणों में श्रद्धालु भक्त आठ-साढ़े आठ बजे, जब भी समय रहता है, शांत भाव से श्रद्धापूर्वक श्रवण करने के इच्छुक रहते हैं और सुनते हैं। जैसे आज आपने अर्जुन माली से संबंधित वृत्तांत सुना। बाद में पूरी भूमिका भी सुनी। उन छहों गोठीले मित्रों के वारे में भी सुना कि उस फुलवारी में, उस बगीचे में, मन्दिर में बैठे दरवाजे की ओट में छिपे, वे छहों मित्र किस रूप में थे। उनके लिए शास्त्रकारों ने विशेषण दिए हैं- "मिथिला निश्चला: ... निष्प्रकंप", कि वे निश्चल हो गए, शरीर में कोई हलचल नहीं रही। ऐसे छहों गोठीले मित्र वहाँ रुके हुए हैं और अर्जुन माली वहाँ पहुँचता है। जैसे ही वह अन्दर पहुँचा, उसे बांध लिया गया, उसका मुँह बांध लिया गया। बंधुमती भार्या के साथ उन्होने जो कुछ भी अनैतिक कार्य किया, जो व्यवहार किया वह भी आपने सुना और मुद्गल पारणी यक्ष कैसे प्रकट हुआ, अर्जुन माली के मन में क्या विचार बने और उन छः गोठीले मित्रों और वंधुमती भार्या को तत्काल वहीं समाप्त कर दिया गया या नहीं, ये सारी वातें आपने इस सूत्र से सुनी। कथा सुनने में वृत्तांत आते हैं, टी.वी. पर भी कथाएँ आती हैं, सिनेमाहॉल में भी कथाएँ देखते हैं, किताबों में भी कथाएँ पढ लेते हैं और कथा को पढकर बस, थोड़ी देर के लिए मन में रंजन कर लेते हैं, मन को प्रमोदित कर लेते हैं। मन में उस कथा से थोड़ा-सा आमोद-प्रमोद हो जाता है और कालान्तर में हम उस कथा को भूल जाते हैं। परन्तु चिन्तन कीजिए कि यह कथा केवल अर्जुनमाली की कथा नहीं है। इस कथा के माध्यम से हमें वोध मिलता है। प्रत्येक मनुष्य की, प्रत्येक प्राणी की आत्मा से संबंधित मूल अवस्थाओं का इसमें प्रदर्शन किया गया है। पाँच इन्द्रियाँ व मन, ये छः एक-दूसरे से संयुक्त होकर चलते हैं और ये संयुक्त रहते हैं। परन्तु इनके साथ यदि दुर्मति जुड़

जाए तो क्या दृश्य जीव आत्मा उपस्थित कर सकता है, यह चिन्तनीय है। उन गोठीले मित्रों से भी बढकर घटनाएँ हम अपने जीवन में घटित कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में कहूँ तो काम, क्रोध, मद, मोह, तृष्णा और डाह, ये छः गोठीले मित्र हैं और दुर्बुद्धि बंधुमती भार्या है। जब तक ये छः गोठीले मित्र जुड़े रहते हैं, हमारे जीवन को परेशान करते रहते हैं। ये वैसे भी बड़े निष्ठुर होते हैं। ये हमें आभास नहीं होने देते और हम जान भी नहीं पाते कि हमारे भीतर काम कहाँ और क्रोध कहाँ है। दरवाजा भी खोलकर देखें क्या हमको अपने भीतर कहीं पर भी काम, क्रोध, मद, मोह, तृष्णा, डाह नजर आते हैं ? डॉक्टर शरीर के अवयवों का ऑपरेशन करते हैं फिर भी उन्हें काम, क्रोध, मद, मोह, तृष्णा, डाह, कहीं दृष्टिगत नहीं होते। ये बड़े निष्ठुर हैं, बड़े चालाक हैं, हमें कोई प्रबंधन भी नहीं करने देते, व्यवस्थित भी नहीं होने देते और जैसे वे छः गोठीले मित्र अर्जुनमाली के आते ही उस पर टूट पड़ते हैं, वैसे ही हमारे ये छः गोठीले मित्र जब एकदम सहसा धावा बोल देते हैं तो हम बेबस हो जाते हैं। इसीलिए कभी-कभी भाई कहते हैं- महाराज ! मैं चाहता हूँ मैं क्रोध नहीं करूँ, पर क्या करूँ ऐसा समय आ जाता है, पता ही नहीं पड़ने देता है, क्रोध आ जाता है, बाद में पछतावा भी बहुत होता है, किन्तु अब पछताए होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत। पछताने से क्या होता है ? वह क्रोध हमारे भीतर की व्यवस्था को, हमारे भीतर की संपदा को जलाकर नष्ट कर देता है, हमारे भीतर की हरियाली को समाप्त कर देता है। जब आग लगी उस समय तो हम नहीं संभले और अब आग लगने के बाद जब सबकुछ स्वाहा हो गया तब हम विचार करते हैं कि यह कैसे हो गया। चोर, चोरी करके चला जाता है उसके बाद पुलिस केवल डंडा पटकती हुई आती है। तब क्या हो सकता है ? सर्प तो निकल गया, क्रोध भी आया और चला गया। अब केवल पछताने के अलावा कुछ भी मिलने वाला नहीं है, हानि जो हो गई वह तो बट्टे खाते गई। बस, पश्चात्ताप आपके जीवन के साथ जुड़ गया।

अहंकार की भी ऐसी ही बात है। हम नहीं समझ पाते हैं कि अहंकार के नाम और रूप कितने हैं। अनेक नाम बताए गए हैं इसके और

अनेक रूपों में इसका प्रकटीकरण होता है। उन सारे रूपों को भी हम जान नहीं पाते हैं और उस पर आवरण डालने की कोशिश करते हैं। यही नहीं, उसे सजाकर वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित क़रना चाहते हैं। परन्तु याद रखिए जब तक ऐसी दशाएँ बनी रहेंगी, तब तक हम अपनी आत्मा को भावित नहीं कर पाएंगे। आवश्यकता इस बात की है कि अर्जुन अणगार के इस प्रकरण से हम स्वयं की अवस्था का परिज्ञान करें।

प्रत्येक मनुष्य के भीतर दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। एक तामसिक शक्ति और दूसरी सात्त्विक शक्ति। तामसिक शक्ति भी हमारे भीतर प्रकट होती है और वह सबसे पहले हमारे भीतर के पर्यावरण को दूषित करती है और जब हमारे भीतर का पर्यावरण दूषित हो जाता है, तब हम बाहर के पर्यावरण को दूषित करने लगते हैं। यह होता ऐसे है कि हम अपने भीतर स्वच्छता का संचार करने के लिए अपने अंतर के दूषित पर्यावरण की सारी की सारी अवस्था या उसका मलबा बाहर यत्र-तत्र फेंकने लगते हैं। परमाणु ऊर्जा संयंत्र, जिससे परमाणु ऊर्जा को संगृहीत किया जाता है, ऊर्जा उत्पादन के पश्चात् जो परमाणु कचरा इकट्ठा हो जाता है उससे भी बहुत परेशानी की स्थिति बन जाती है, इसलिए उस कचरे को यत्र-तत्र नहीं डाला जाता बल्कि सोचा जाता है कि इसको कहाँ पर डाला जाये ? हमारे भीतर भी इन वैकारिक प्रवृत्तियों से, वैभाविक अवस्थाओं के निर्माण के पश्चात् जो पर्यावरण दूषित होता है और उसके पश्चात् जो मलबा हमारे भीतर इकट्ठा हो जाता है, उस मलबे को बाहर कैसे विसर्जित करें, इसका चिन्तन किए बिना ही हम उस मलबे को बाहर फेंक देते हैं। वही मलबा बाहर आकर परिवार को विभाजित करवाता है, समाज को विभाजित करवाता है और भाई-भाई के मन में दरारें पैदा करवाता है। इस प्रकार वह मलबा बाहर के प्रदूषण को, बाहर के वातावरण को प्रदूषित बनाने का कारण बन जाता है। आज का विज्ञान खोज कर रहा है और वैज्ञानिक बड़े चिन्तित हो रहे हैं कि यदि यह बाह्य प्रदूषण, ऊर्जा संयंत्रों आदि के कारण से फैलने वाला इसी तरह से बढता गया तो आने वाले समय में मानव का जीवन ख़तरे में पड़ सकता है। जो इतनी-सारी गैसें आज छोड़ी जा रही हैं और जो उत्पादन के दौरान

निकलती हैं उनके कारण यह माना जा रहा है कि पृथ्वी और सूर्य के बीच में जो ओजोन परत है उसमें भी छिद्र हो गया है। परिणामस्वरूप सूर्य की पराबैंगनी किरणें जमीन पर आने लगी हैं। वे किरणें यदि सीधी आ जाएं तो मानव का जीवित रह पाना कठिन हो जाएगा और इस भूमि के जीव-जंतुओं का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा।

कभी-कभी विचार चलता है कि भगवान महावीर 2500 वर्ष पहले जो बातें फरमा गए थे वे कितनी सच हैं ! उस सच को हम सामने देख रहे हैं। ओजोन की परत में धीरे-धीरे छोटे-छोटे छिद्र हो रहे हैं। यह परत यदि बीच में नहीं होगी तो शास्त्रकारों ने बतलाया है कि आग की वृष्टि होगी, आग बरसने लग जाएगी, आग के शोले पड़ेंगे, आग के गोले पड़ेंगे, आग के अंगारे पड़ेंगे। सूर्य की तेज किरणें इतनी प्रखर होंगीं कि उन किरणों को व्यक्ति सहन भी नहीं कर पाएगा और इसके लिए बतलाया गया है कि उस समय जब प्राणी बाहर खुले में नहीं रह पाएँगे तो वे गुफाओं के भीतर आश्रय लेकर रहेंगे।

बंधुओं ! हमें शास्त्रवाणी पर विश्वास करते हुए चिन्तन करने की आवश्यकता है कि हमारे भीतर का प्रदूषण बाहर फैलता हुआ अनेक प्रकार की गैसों के रूप में किस प्रकार से हमारी सुरक्षा छतरी में, समाज, परिवार और राष्ट्र रूपी हमारी ओजोन की छतरियों में छेद कर रहा है। हम यदि इस प्रकार अंदर के अपने प्रदूषण को बाहर फैलाकर परिवार की ओजोन छतरी पर वार करते हैं, समाज की ओजोन छतरी पर वार करते हैं तो कैसी विषम स्थिति उत्पन्न हो जाएगी ? राज्य रूपी ओजोन छतरी पर भी हमारे द्वारा निष्कासित, हमारे द्वारा बाहर फैलाया गया प्रदूषण पूरे परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए एक विषम समस्या बन गया है, किन्तु फिर भी मनुष्य अपने भीतर के प्रदूषण को बाहर डालने से बाज नहीं आ रहा है, बल्कि निरन्तर अपने भीतर के कचरे को वह बाहर फैलाने में लगा हुआ है। जो इण्डस्ट्रियल एरिया है, उसमें बहुत प्रोडक्शन से हम खुश हो रहे हैं। हम गर्व करते हैं कि हमने बहुत-सारा प्रोडक्शन कर लिया है, किन्तु उसी प्रोडक्शन के फलस्वरूप जो गन्दा पानी उत्पन्न होता है, कैमिकल्स वाला जो विषैला पानी उत्पन्न हो रहा है वह कहाँ जा रहा है ? उसको कहाँ छोड़ा जा रहा है ? क्या इसे भी हम देख रहे हैं ?

पानी नदी और नालों में पहुँचता जा रहा है। उनमें बहाया जाने लगा है। यहाँ तक कि हमारी गंगा भी इतनी दूषित हो चुकी है कि उसे शुद्ध करने के लिए कई उपाय किए जा रहे हैं। पर हमारी गंगा कैसे शुद्ध होगी ? जब तक वह सारी गन्दगी और वह प्रदूषित पानी उसमें मिलता रहेगा तब तक औपचारिक रूप से आप सफाई करते रहिए, किन्तु वह रासायनिक पानी उसे लगातार गंदा करता रहेगा, उसकी गुणवत्ता समाप्त करता रहेगा। परिणामस्वरूप सफाई नहीं हो पाएगी।

हमारे भीतर के प्रदूषण ने परिवार और समाज की जो हालत बना दी है, उस कारण आज समाज को समाज कहने में शर्म आती है। आज समाज की कोई शर्म नहीं रह गई है, परिवार की कोई लज्जा नहीं रह गई है। एक छोटा-सा बालक भी जिस तरह अपने पापा के सामने और अपने से बड़ों के सामने से बदतमीजी से बोलने के लिए तैयार हो जाता है, उसे देखकर लज्जा ही नहीं, क्रोध आता है। समाज के बड़े-बुजुर्गों का कोई सम्मान नहीं रह गया है। आँख की शर्म आज न जाने कहाँ चली गई है ? दशवैकालिक सूत्र में लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य के संबंध में बताया गया है कि जिसका ब्रह्मचर्य चला गया, जो साधना से विमुख हो गया उसे साधना में लगाया जा सकता है। यदि किसी का संयम चला गया, वह असंयम की प्रवृत्ति में रम गया तो उसे भी संयमी जीवन पर आरूढ किया जा सकता है। जिसके हृदय से दया चली गई, कालांतर में उसके हृदय में दया का दरिया भी वापस बहाया जा सकता है, किन्तु जिसके जीवन से लज्जा चली गई हो, निर्लज्ज हो गया हो, उसके जीवन में संयम के फूल खिलना, उसमें आध्यात्मिक सौरभ उत्पन्न होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

आज जब हम समाज का परिदृश्य देखते हैं तो बहुत पीड़ा होती है। ऐसे व्यक्ति भी, जिनको सामाजिक रीति-नीति का ज्ञान तक नहीं है, वे व्यक्ति भी समाज के धरातल पर बांहें चढाने को तैयार हो जाते हैं। क्या वस्तुतः यही हमारे समाज का चरित्र रह गया है ? क्या यही सभ्य नागरिकता रह गई है ? राष्ट्र की स्थिति भी बड़ी विचित्र बनी हुई है और व्यक्ति यहाँ तक कहने लगे हैं कि लोकसभा और विधानसभाओं में अब

सभ्य व्यक्तियों के पहुँचने का समय नहीं रह गया है। यदि कोई सभ्य व्यक्ति पहुँचता भी है तो उसका दामन साफ रह पाना बड़ा कठिन हो गया है।

पूज्य गुरुदेव एक मार्मिक दृष्टांत फरमाया करते थे। एक बार एक ज्योतिषी ने एक सम्राट् से कह दिया कि राजन, आने वाला समय बड़ा भयावह है। छः महीने तक तो अवस्था ठीक है, इतने समय में जितना पानी आप एकत्र कर सकते हैं, करके रख लें, क्योंकि छः महीने के बाद जो वर्षा बरसेगी, वह व्यक्तियों को पागल बना देगी, मदहोश कर देगी। उस वर्षा का पानी जो पी लेगा वह आपा खो देगा। सम्राट् ने पानी की व्यवस्था करवाई। जनता से कह दिया कि आने वाली वर्षा का पानी नहीं पीएं। किन्तु आप जानते हैं कि यदि किसी विषय का निषेध कर दिया जाता है तो उसके संबंध में और अधिक उत्कंठा जागती है। लोग सोचते हैं कि जरूर कोई-न-कोई राज है। ऐसी ही बात तब हुई। लोग सोचने लगे कि सम्राट् ने क्यों मना कर दिया है, पानी पीने में क्या गलत है ? एक व्यक्ति के मन में यह दुर्बुद्धि उपजी और कहते हैं कि विनाशकाले विपरीत बुद्धि - जब व्यक्ति का विनाश नजदीक होता है तब उसकी बुद्धि भी विपरीत हो जाती है, उसकी मति पलटा खा जाती है, चाहे वह कितना भी विद्वान् हो। पर एक दिन उसकी मति भी उसे धोखा दे जाती है। सम्राट के आदेश के संबंध में संशयशील उस व्यक्ति ने सोचा कि जरा चखकर तो देखूँ। उसने पानी चखा, वह बहुत मीठा था, स्वादिष्ट था। उसने निष्कर्ष निकाला कि राजा इसीलिए मना कर रहे थे, जिससे कि ऐसे स्वादिष्ट पानी को पीने से लोग वंचित रह जाएं। उसने दूसरे से कहा, दूसरे ने तीसरे से कहा, तीसरे ने चौथे से कहा। इस प्रकार बात धीरे-धीरे सब में फैल गई और सबने थोड़ा-थोड़ा जल चखा। सबको पानी स्वादिष्ट लगा। परिणामस्वरूप उन लोगों ने वह पानी पीना शुरू कर दिया। जिन-जिन लोगों ने पानी पीया था उनके भीतर हरकतें होने लगीं और वे दूसरों को भी पानी पिलाते हुए चले गए। जैसे कोई भांग पीने वाला होता है तो वह दूसरों को भी भांग पिलाने की कोशिश करता है। एक शराबी व्यक्ति दूसरों को भी शराब पीने के लिए आमंत्रित करता है।

बीड़ी पीने वालों को ही देख लीजिए, खुद भी बीड़ी पीएंगे, दूसरों को भी बीड़ी पिलायेंगे। पास में यदि चार जने बैठे हों तो एक व्यक्ति कश खींचकर दूसरे की और बढ़ा देगा, दूसरा भी कश खींचेगा ओर तीसरे की तरफ बढ़ा देगा, तीसरा चौथे को देगा।

एक बार आचार्यदेव बाबरा गांव में विराज रहे थे, वहाँ शराब पीने की चर्चा चल पड़ी। वहाँ बहुत-से राजपूत भाई भी आते थे। एक राजपूत भाई आया और कहने लगा कि महाराज हम तो सौगंध ले लें, किन्तु विवाह-शादी में जहाँ जाते हैं, वहाँ तो हमको शराब पीनी ही पड़ती है। वहाँ पर हमें झटका लगाना पड़ता है। वहाँ यदि कह दें कि हम नहीं लगाते हैं तो हमें लज्जित और प्रताड़ित किया जाता है। मर्दभेदी शब्दों के बाण हम पर चलाए जाते हैं। यहाँ तक कह दिया जाता है कि यह हिंजड़ा है, इसमें वह पौरुष कहाँ कि यह शराब पी सके, बकरे पर झटका लगा सके। उस स्थिति को हम सह नहीं सकते इसलिए आप विवाह-शादी की छूट रखकर बाकी समय कि सौगन्ध हमें दिला दिजिए। देखिए की कैसी-कैसी अवस्थाएँ आती हैं ? इन सब बातों को शायद आज हम गहराई से नहीं ले रहे हैं, किन्तु आने वाला समय बताएगा, जब हमारा नाम इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में नहीं, काले रंग की पुताई के साथ लिखा जाएगा। तब आने वाली पीढियाँ देखेंगी कि हमारे पूर्वजों ने क्या-क्या किया था। बंधुओ ! संभल जाइए और अपने मन के प्रदूषण को परिवार और समाज के भीतर घोलने का प्रयत्न मत कीजिए। ऐसे प्रदूषण को आप, महावीर भगवान ने जो विधि बताई है, उस विधि के अनुसार समाप्त कर सकते हैं।

आज भी परमाणु भट्टियों का मलबा इधर-उधर नहीं फेंका जाता है। उसके लिए भी बताया जाता है कि हजारों फीट गहरी सुरंग खोदकर उसके भीतर उस परमाणु मलबे को डलवाने की व्यवस्था की जा रही है ताकि उस मलबे से होने वाली हानि से मानव-समाज और प्राणि-जगत् को मुक्त रखा जा सके। वैसे ही भगवान महावीर ने इस मलबे को समाप्त करने के लिए हमारे सामने मार्ग प्रशस्त किया है। अपने भीतर के मलबे को हम कहाँ दफनाएं, कैसे दफनाएं, उसकी व्यवस्था क्या है ? विधि

क्या है ? उसके लिए हमारे सामने तीन सूत्र आते हैं। ये तीन सूत्र हैं- आलोचना, निन्दा और गर्हा। आलोचना के माध्यम से, निन्दा के माध्यम से और गर्हा के माध्यम से, इन तीनों माध्यमों से अपने भीतर के प्रदूषण को इतना गला दो, इतना पिघला दो, इस तरह रूपान्तरित कर दो कि उसकी प्रकृति ही बदल जाए। फिर यदि वह बाहर आ भी जाए तो भी वह प्रदूषण फैलाने वाला नहीं हो, परन्तु इसके लिए बड़ा मनोबल और साहस होना चाहिए।

आलोचना, निन्दा और गर्हा का उत्कृष्ट रूप पारांचित प्रायश्चित्त में देखा जा सकता है। उसे दशवां प्रायश्चित्त कहा गया है। जो कोई दृढ मनोबली ही वहन कर सकता है। आज उस प्रायश्चित्त को वहन करना तो दूर की बात है, जो सामान्य प्रायश्चित्त है उसको भी वहन करना बड़ा कठिन हो जाता है। हम तुलना करने लगते हैं कि उसको कम प्रायश्चित्त दिया, मुझे इतना कैसे दे दिया ? मुझे अधिक क्यों दे दिया ? बुखार यदि 104 डिग्री हो और स्थिति को देखते हुए वैद्य एक को कड़वी गोली दे और दूसरे को मीठी गोली दे और हम सोचने लगें कि ऐसा क्यों हो गया, एक को कड़वी दवा दी और दूसरे को मीठी दवा दी, तो यह हमारी कैसी नासमझी होगी। क्योंकि बुखार एक ही प्रकार का नहीं होता। एक बुखार मलेरिया का होता है, तो दूसरा वायरल का। इसी प्रकार बुखार टायफाइडजन्य, टी.बी. एवं इन्फेक्शन से भी हो सकता है। इसलिए बुखार भले ही 104 डिग्री के रूप में समान हो, किन्तु उसके कारण की भिन्नता होने से औषधि में भिन्नता आ गई। इसी तरह अपराध भले ही एक समान हो, किन्तु उसमें कारण रूप भाव भिन्न-भिन्न होने से प्रायश्चित्त में भिन्नता आ जाती है।

तीन अपराधियों के समान अपराध के लिए एक सम्राट ने अलग-अलग दंड दिए। एक को उपालम्भ देते हुए कहा कि तू ऐसा क्यों करता है ? दूसरे को देश निकाला दे दिया और तीसरे को गधे पर बिठाकर नगर में घुमाया जाकर फाँसी पर चढाने का दण्ड सुनाया। लोगों को आश्चर्य हुआ। किसी ने हिम्मत करके सम्राट् से पूछ लिया- राजन्, बात क्या है ? आप तो दूध का दूध और पानी का पानी करने वाले हैं। आप न्याय के सिंहासन पर बैठने वाले हैं, आपने एक जैसे अपराध के

लिए तीन व्यक्तियों को अलग-अलग दण्ड क्यों दिए ? तो सम्राट् ने कहा कि 24 घण्टे बाद मुझसे बात करना। पहले 24 घण्टे बाद उन तीनों व्यक्तियों की खोज-खबर कर लेना कि वे कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं। जब 24 घण्टे के बाद जानकारी की गई तो पता चला कि पहला व्यक्ति तो मारे शर्म के स्वयं आत्महत्या कर लेता है। दूसरे व्यक्ति ने भी आत्महत्या का प्रयास किया था। तब सम्राट् ने स्पष्ट किया कि देख लो कैसे एक व्यक्ति को धिक्कारना ही उसके लिए कठोर दण्ड हो गया, उसके लिए इतना उपालम्भ ही असहनीय हो गया। पानीदार व्यक्ति तो इतना-सा उपालम्भ भी सहन करने की स्थिति में नहीं होता। ऐसा व्यक्ति कोई गलती करता नहीं सहसा, यदि किसी कारण से गलती हो जाए तो थोड़ा-सा प्रायश्चित्त भी उसके लिए बड़ा पीड़ादायक बन जाता है। अब बात हमारे समझ में आ गई होगी कि भले ही अपराध की ऊपर से समानता हो, किन्तु उसके कारण भिन्न हो सकते हैं। दण्ड केवल अपराध का ही नहीं होता, उसके पीछे रहे हुए कारण को जानकर दण्ड दिया जाता है। महासती मृगावती की थोड़ी-सी गलती के कारण उन्हें जो उपालम्भ मिला था, उससे प्रतिफलित आत्मग्लानि, आलोचना और निन्दना रूपी तप से उन्होंने अपने भीतर के सारे प्रदूषण को समाप्त कर लिया था।

पहले अपराधी एवं मृगावती को उपालम्भ ही पर्याप्त था। आज हम स्वयं में अनुभव करें कि यदि हमारी गलती भी हो और कोई हमें उपालम्भ दे तो हमारी क्या स्थिति बनेगी ? हम अपने भीतर के प्रदूषण को गलाने का, नष्ट करने का प्रयत्न करेंगे या उस प्रदूषण को और अधिक बाहर फैलाने का कार्य करेंगे ?

बन्धुओं ! हम जप-तप कितना ही कर लें, पर जब तक प्रदूषण को गलाने का नष्ट करने का हमारा लक्ष्य नहीं होगा तब तक सारे जप-तप व्यर्थ हैं। यदि किसी प्रकार की कोई शंका हो तो यथास्थान समाधान पाना चाहिए। जहाँ समाधान मिल सकता है, वहाँ नहीं जा सकते हो तो तुम्हें समाधान नहीं मिल सकता। वहाँ नहीं पहुँचकर बाजार में तुम क्या समाधान पाओगे ? बाजार में गली-कूँचों में पहुँचकर क्या समाधान कर लोगे ? वस्तुतः मति जब भ्रष्ट हो जाती है तो वह समाधान

नहीं करना चाहती है। तब वह समाज में प्रदूषण ही फैलाना चाहती है। चाहे हम इस प्रदूषण का विरोध करें, किन्तु इससे हम इस प्रदूषण को समाप्त नहीं कर पाएंगे। कितने व्यक्ति हैं जो तैयार हैं कि हम अपने प्रदूषण को समाज में नहीं फैलाएंगे, परिवार में नहीं फैलाएंगे ? "नमो अरिहंताणं" तपस्या करना बड़ा सरल है, किन्तु अपने अन्तर के प्रदूषण को समाप्त करना इतना आसान नहीं है।

मैं आपको अर्जुन एवं सेठ सुदर्शन की कथा सुना रहा था। लेकिन क्या हम अपनी कथा को सुन-पढ पाते हैं। अजीब स्थिति है, अपनी कथा पढने का तो समय हमारे पास नहीं है, लेकिन दुनिया की कथा को पढने के लिए हमारे पास समय है। दुनिया की कथाओं से भी हम अपना मनोरंजन जरूर कर लेते हैं, किन्तु आत्मरंजन, आत्म-संशोधन की प्रक्रिया से हम नहीं गुजरते हैं। होना यह चाहिए कि बाहर की कथा-रूप दर्पण को देखकर हम अन्दर का संशोधन करें, किन्तु ऐसा हम नहीं करते हैं। हम भाव से बाहर की हिस्ट्री को सुन लेते हैं और बाहर के सारे काम-धाम के अनुरूप अपनी स्थिति को संवार लेते हैं, किन्तु अपने अंतर की हिस्ट्री नहीं पढते, उसके अनुसार सुधार नहीं करते।

अर्जुन माली छः गोठिले मित्र एवं बंधुमती भार्या को समाप्त करके ही नहीं रुका, अब वह प्रतिदिन छः पुरुष और एक स्त्री की घात करने लगा। उसका आक्रोश शान्त नहीं हो रहा था। उसका आतंक राजगृह में फैल चुका था। उसकी आतंकी हरकत सम्राट् भी काबू में नहीं कर पाए, परिणामस्वरूप मगध सम्राट् ने कह दिया कि नगर के दरवाजे बंद कर दो। जब काम, क्रोध, मद, मोह - इन सारों का संगठन बन जाता है तब आत्मा बेबस हो जाती है। आत्मा बेबस हो जाती है तो उसको भान ही नहीं रहता है, तब यह बचाव नहीं कर पाती है, किन्तु सेठ सुदर्शन जैसा किसी का विवेक हो तो बात अलग है। उसने तो कह दिया कि मुझे तो दर्शन करने जाना है। वह तो महावीर के दर्शन करने जा रहा है। पर विचार कर लीजिए कि इस दरवाजे के बाहर कोई ऐसी घटना हो और पता चले कि रामनिवास बाग में कोई पूज्य व्यक्ति आए हुए हैं तो जयपुर के कितने लोग दर्शन करने जाएंगे ?

बन्धुओं ! सेठ सुदर्शन नहीं जाता है। जितने मुँह उतनी बातें भी होती हैं, पर बातों पर नहीं, अपने लक्ष्य को लक्षित करता है। अर्जुन दौड़ा आता है। सेठ सागारी संथारा कर लेता। मुद्गरपाणी यक्ष टिक नहीं पाता। उसके जाते ही अर्जुन धड़ाम से धरणी पर गिर पड़ता है। होश आने पर सुदर्शन से पूछता है- आप कौन हैं ? सेठ कहता है कि मैं श्रमणोपासक हूँ। उसने पूछा- आप कहाँ जा रहे हैं सुदर्शन ने बताया- मैं श्रमण भगवान महावीर के दर्शन करने जा रहा हूँ। तब अर्जुन कहता है- क्या मैं चल सकता हूँ ? सुदर्शन उसे साथ ले भगवान के दर्शन हेतु पहुँचा। भगवान की देशना सुन अर्जुन का अंतर जागृत हो चुका। उसने अपने सारे प्रदूषण को गला दिया। उसने अपने अंतर मन को सुवासित करने के लिए क्षमा की अगरबत्ती लगा ली। परिणामस्वरूप उसकी आत्मा परमात्मा बन गई।

पर्व पर्युषण के पावन दिनों में पवित्र आत्माओं के जीवन-वृत्तांत सुनकर हमें भी अपने भीतर के सारे प्रदूषण को गलाकर नष्ट करने का प्रयास करना चाहिए। अर्जुन अणगार की बात आज ही आपने सुनी है। दीक्षा लेने के पश्चात् उनके समक्ष परीषह आया। कोई गाली देता है, तो कोई प्रहार कर देता है कि यह तो वही है जिसने मेरे भाई को, भतीजे को मारा था। एक दिन, दो दिन नहीं, छः माह तक वह परीषह सहता रहा और अपने भीतर के प्रदूषण को गलाकर अन्तर में सुवास भरता रहा। आज ऐसी स्थिति आ जाए तो कहेंगे, गुरुदेव कब तक सुनें ? सुनने की भी एक सीमा हो सकती है। यदि हमारा धैर्य ही सीमित हो तो सुनने की भी एक सीमा होती है। अन्यथा सुनाने वाला नहीं थकता हो तो सुनने वाले को क्यों थकना ? अर्थात् अपना धैर्य इतना विकसित हो जाए तो वह सुनाने वाले से ओछा नहीं पड़े। इस प्रकार से यदि पर्व पर्युषण से जीवन संवार सकें तो हमारा पर्युषण मनाना सार्थक हो सकता है।

सारांश यह है कि नष्ट प्रदूषण सफल पर्युषण।

31.08.2000

❖ ❖ ❖

7. श्रेष्ठ श्रोता - बने उपभोक्ता

पर्युषण पर्व का आज सातवां दिवस है और कल संवत्सरी महापर्व का पूर्व दिवस है। जब शिविर लगता है तब उसके प्रारम्भ होते ही अध्ययन कार्य सुचारु रूप से चलने लगता है और जिस दिन शिविर का समापन होता है उसके पहले दिन परीक्षा ले ली जाती है, ताकि परिणाम देने में सुविधा रहे। वैसे ही आज हमारी परीक्षा का दिन है। छहः दिनो में हमने आत्मा के लक्षणों के सम्बन्ध में सुना है-

नाणं च दंसणं च चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगोय एयं जीवस्स लक्खणं॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग -ये जीव के लक्षण हैं। इन लक्षणों के माध्यम से हमने अपनी पहचान किस रूप में की, कितनी की, यह परीक्षा का विषय है। लक्षणों के रहते हुए भी यदि हम अपनी पहचान नहीं कर सके; अध्ययन बहुत किया, किन्तु समझ में कुछ नहीं आया तो उस अध्ययन का क्या लाभ हुआ ? कोई निरंतर अध्ययन भले ही करे, किन्तु विषय को समझ ही नहीं सके तो आप जानते हैं कि वह यदि परीक्षा में बैठे तो वह परीक्षा में क्या प्राप्त कर सकता है, परीक्षा से वह क्या हासिल कर सकता है ? वह उत्तीर्ण नहीं हो सकता। उत्तीर्ण होने के लिए अध्ययन करना ही पर्याप्त नहीं होता, विषय को समझना भी अनिवार्य होता है। अभी हमारी आदत अध्ययन करने की है। विषय को हम समझें या नहीं समझें, यह सोचे बिना अध्ययन करते हुए चले जाते हैं क्योंकि हम यह मानकर चलते हैं कि हमें कोई परीक्षा देनी ही नहीं है। जहाँ परीक्षा का संबंध जुड़ा हुआ है वहाँ व्यक्ति अध्ययन के साथ विषय को समझने का प्रयत्न भी करता है। यदि स्कूल में अध्ययन करते हुए विद्यार्थी विषय को नहीं समझ पाया हो तो वह क्या करता है ? यदि वह स्कूल में अध्ययन करते हुए भी विषय को समझ न सके तो वह ट्यूशन करता है और ट्यूशन करके वह विषय को समझने का प्रयत्न

करता है, ताकि रिजल्ट सही आ जाए। उसे रिजल्ट की चिन्ता होती है, अच्छे रिजल्ट की उसे आवश्यकता होती है। हमें रिजल्ट की कोई अपेक्षा नहीं है। एक दृष्टि से यह बात अच्छी भी है। रिजल्ट प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अध्ययन करता है, जरूरी नहीं कि उसका वह अध्ययन ठोस हो जाए। वह केवल औपचारिक रूप से भी अध्ययन करके रिजल्ट प्राप्त कर लेता है। किन्तु अध्ययन तो खूब करे, फिर भी विषय को नहीं समझे तो वह व्यक्ति भी अध्ययन को ठोस नहीं कर सकता। अध्ययन वही श्रेष्ठ माना गया है, जिसमें विषय इस प्रकार दिमाग में बैठ जाए कि अध्ययनकर्ता दूसरे को वापस अध्ययन करा सके। यदि दूसरे को अध्ययन कराने की क्षमता हासिल हो गई तो कहना पड़ेगा कि उसने अध्ययन किया है, उसने उस विषय को हृदयंगम भी किया है। बिना हृदयंगम किए गए विषय को दूसरे व्यक्ति को अध्ययन करवाना बड़ा कठिन काम है।

आपकी यदि परीक्षा ली जाए और एक-एक को खड़ा कर कहा जाए कि छह दिनो में उसने जो-कुछ भी सुना और सुनने के साथ उसे जिस रूप में हृदयंगम किया, जिस प्रकार की भी अनुभूति उसने की, उससे अन्य व्यक्तियों को भी लाभान्वित करे, उस अनुभूति से दूसरों को भी बोध दे। छह दिनों में सुने हुए विषय को अपनी अनुभूति के साथ प्रस्तुत करे और वह ऐसा कर पाए तब ही वर्तमान युग में कहा जा सकता है कि उसने अध्ययन किया है। "वर्तमान" विशेषण जो मैंने लगाया है, उसके पीछे क्या कारण है ?

राजा भोज के जमाने में ऐसे-ऐसे रत्न मौजूद थे एक बार जो बात सुन लेते थे उसे हूबहू पुनः प्रस्तुत कर सकते थे। ऐसी भी विभूतियाँ थीं जो दो बार सुनकर पूरे विषय को उसी प्रकार प्रस्तुत कर सकती थीं। तीन बार, चार बार, पाँच बार सुन कर वैसा का वैसा ही पुनः प्रस्तुत करने वाली विभूतियाँ भी थीं। किन्तु वर्तमान में ऐसी विभूतियाँ विरल ही होंगी जो एक बार, दो बार या तीन बार सुनकर पूर्णतया, एक भी अक्षर, एक भी शब्द की अदला-बदली किए बिना अथवा बिना कोई परिवर्तन किए बात को वैसा का वैसा ही प्रस्तुत कर सकें। कहा जाता है कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद कांग्रेस के एक अधिवेशन में सम्मिलित

हुए थे। प्रथम दिन की जो रिर्पोट तैयार की गई थी उसको दूसरे दिन खुले अधिवेशन में प्रस्तुत करना था। रिपोर्ट तैयार हो गई, किन्तु संयोग की बात थी कि वह रिपोर्ट गुम हो गई। उसकी डुप्लीकेट कॉपी भी नहीं थी। कर्मचारीगण परेशान हो गए कि अब क्या किया जाए ! बड़ी खोज की गई, पर रिपोर्ट नहीं मिल पाई। तब डॉ. राजेन्द्रप्रसाद से हाथ जोड़कर, सिर नवाकर, संकोच करते हुए उन्होंने कहा कि साहब रिपोर्ट गुम हो गई है। इस पर डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने कहा- चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, आपने वह रिपोर्ट मुझे पढने के लिए दी थी, मैंने उस रिपोर्ट को पूरा पढा था। यदि वह रिपोर्ट नहीं मिल रही है तो बैठो, मैं लिखा देता हूँ। इस प्रकार डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी ने वह रिपोर्ट पूरी की पूरी लिखवा दी। इधर रिपोर्ट लिखाने का कार्य पूर्ण हुआ, उधर एक व्यक्ति दौड़ा हुआ आया और बताया कि वह रिपोर्ट मिल गई है। दोनों रिपोर्ट जब सामने आ गईं तब व्यक्तियों के मन में उत्सुकता जगी कि पूर्व की रिपोर्ट मिल गई है और इधर डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी ने जो रिपोर्ट लिखायी है, इन दोनों का मिलान कर लिया जाये। जब दोनों का मिलान किया गया तो लोगों को आश्चर्य हुआ कि दोनों रिपोर्ट एक जैसी थीं। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने तो केवल एक बार उस रिपोर्ट को पढा था, फिर भी शब्दशः उसको पुनः लिखवा दिया था। वर्तमान में ऐसी विभूतियों का दर्शन कठिन हो गया है। ऐसे श्रोता दृष्टिगत नहीं हो पाते हैं। यदि कोई प्रतिभा दर्शाए तो वस्तुतः प्रसन्नता की बात होगी।

बन्धुओं ! मैं बतला रहा था कि हमारा अध्ययन कैसा होना चाहिए। परीक्षा में रिजल्ट लाने मात्र से जीवन नहीं बन जाता। अध्ययन कर लिया, परीक्षा में बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो गए, इतने मात्र से हमें संतुष्टि नहीं होनी चाहिए। संतुष्टि तब होती है जब वह विषय पूर्णतया हृदयंगम हो गया हो और जीवन में आचरण करने योग्य बन गया हो।

द्रोणाचार्य विद्यार्थियों को पाठ पढा रहे थे कि क्रोध नहीं करना चाहिए, क्रोध मत करो। जब उस पाठ को पुनः सुनाने का उन्होंने आदेश दिया तो एक-एक राजकुमार ने धड़ाधड़ से उस पाठ को सुना दिया और कह दिया- हमने इसको कंठस्थ कर लिया है। जब युधिष्ठिर का नम्बर

आया तब युधिष्ठिर ने कहा- गुरुदेव, मुझे अभी पाठ याद नहीं हुआ है। तब द्रोणाचार्य ने कहा- अरे, तुम तो बड़े राजकुमार हो, तुमसे तो कितनी ही आशाएँ लगी हुई हैं, पर तुम्हें एक छोटा-सा पाठ भी याद नहीं हुआ है, ऐसे कैसे काम चलेगा ? उस दिन केवल उपालम्भ देकर छोड़ दिया। दूसरे दिन जब पुन: पूछा तो फिर वही उत्तर मिला- गुरुदेव अभी पूरा याद नहीं हुआ है। द्रोणाचार्य थोड़े आक्रोशित हुए और कहा- युधिष्ठिर, यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? तुम एक छोटा-सा पाठ याद नहीं कर पाए हो। क्या करते हो घर में ? क्या सारे दिन उधम मचाते हो ? यदि यह पाठ कल याद नहीं हुआ तो फिर खैर नहीं है। तीसरे दिन जब पुन: पूछा गया तब फिर युधिष्ठिर ने कहा कि गुरुदेव, पूरा याद नहीं हुआ है। तव द्रोणाचार्य ने वहीं चांटा जड़ दिया और चांटा पड़ने के साथ ही युधिष्ठिर ने कहा- गुरुदेव, मुझे पाठ याद हो गया। ऐसे अध्ययन करने वाले कितने व्यक्ति होते हैं ? द्रोणाचार्य की कक्षा में विद्यार्थी तो बहुत थे, किन्तु युधिष्ठिर जैसा विद्यार्थी एक ही था। ऐसे ही धर्मसभा में श्रोता तो बहुत होते हैं, किन्तु उपभोक्ता बहुत कम होते हैं।

उपभोक्ता जानते हैं कौन होता है ? उपभोक्ता किसको कहते हैं ? ग्रहण करने वाले को, खाने वाले को, उपयोग करने वाले को उपभोक्ता कहते हैं। आप यह मत समझ लेना कि यह पंचम आरा है इसलिए उपभोक्ता नहीं है। चौथे आरे में भी जितने श्रोता होते थे, उतने उपभोक्ता नहीं होते थे। सुनने वाले कितने होते थे ? भगवान महावीर की पहली सभा में श्रोताओं की कमी नहीं थी, किन्तु उपभोक्ता कितने निकले ? एक भी नहीं। भगवान महावीर की प्रथम देशना के समय श्रोता भरे हुए, किन्तु उपभोक्ता नहीं। बाद की सभाओं में उपभोक्ता जरूर रहे, किन्तु श्रोताओं की संख्या सदा अधिक ही रही और उपभोक्ताओं की संख्या कम रही। इसलिए उपभोक्ताओं की जीवनचर्या और उनके जीवन का दर्शन इस पर्व पर्युषण के दिनों में आपके सामने विभिन्न तरीकों से प्रस्तुत किया जा रहा है - चाहे वे अरिष्टनेमि भगवान के समय के उपभोक्ता हों, चाहे भगवान महावीर के समय के। बहुत-सारे उपभोक्ता वैभव में पले, अनेक रमणियों के साथ जिन्होंने शादी की, किन्तु नाक के श्लेष्म

के समान, उस सारे वैभव को तत्काल फेंककर, सबकुछ छोड़कर उन्होंने प्रभु की शरण को प्राप्त कर लिया। आपने यह भी सुना है कि गजसुकुमाल जैसा राजकुमार, जो देवकी की आँखों का तारा था, जिसको एक क्षण भी देवकी महारानी अपनी आँखों से ओझल नहीं करना चाहती थी, जो अभी यौवन में प्रवेश करने की तैयारी कर रहा था, माता, पिता, भ्राता उसके बारे में क्या-क्या विचार संजो रहे थे और कृष्ण महाराज, वे तो उसकी शादी के लिए कन्याओं को एकत्र करने में लगे हुए थे। किन्तु उस प्रवेश पाती हुई जवानी में वे गजसुकुमाल, जिन्होंने कभी जमीन पर, पैर नहीं रखा होगा, वे भी बढ चले इस कंटाकाकीर्ण संयम-पथ पर। गुलाब कांटों में ही खिलते हैं और जब परीषह-उपसर्ग आते हैं तभी संयम में चमक आती है, तभी उस संयम की परीक्षा होती है, तभी कसौटी होती है त्याग और वैराग्य की। त्याग और प्रत्याख्यान एक व्यक्ति लेकर चलता है; यदि उपसर्ग के समय में भी वह व्रत पर दृढ रहता है, अडिग रहता है, तब ही उसे परीक्षा में उत्तीर्ण माना जाता है। साधुओं को ही उपसर्ग नहीं आते हैं, श्रावकों के जीवन में भी अनेक उपसर्ग आते हैं। उन उपसर्गों के क्षणों में व्यक्ति स्वयं कितना धैर्य रख पाता है, यह महत्त्वपूर्ण है। शांतक्रान्ति के अग्रदूत आचार्य पूज्यश्री गणेशीलालजी महाराज के पिताश्री साहिबलालजी पौषध लिए हुए थे, तभी घर से सूचना आई कि उनकी पुत्री का वियोग हो गया, परन्तु वे अपने पौषध में तल्लीन रहे। यहाँ पर भी भीमरावजी साहब सुराणा, जिनकी पत्नी का परसों एक्सीडेन्ट हुआ, हड्डी फ्रेक्चर हो गई और उन्होंने पौषध लिया ही था, घंटे-दो घंटे का समय हुआ होगा, परिवार का और कोई सदस्य नहीं, उन्होंने शायद मूथाजी से परामर्श किया होगा कि क्या किया जाए ? मूथाजी मुझे पूछने लगे क्या करना चाहिए उनको ? मैं बताऊं कि क्या करना चाहिए उनको ? यह मुझे बताने की क्यों आवश्यकता पड़ गई ? क्या जयपुर संघ जवाबदारी का निर्वाह नहीं कर सकता है ? उनको पौषध में हलचल ही क्यों हो ? मूथाजी समझ गए। वे आए और सुराणाजी को कहते हैं कि आप निश्चिंत रहिए। आप अपने पौषध में रहें। आप पौषध बनाकर रखिए। संघ समाज बहुत बड़ा है और वे अपने-आप में धैर्य से उस पौषध

में लगे रहे। संघ, समाज ने अपना दायित्व निर्वाह किया। ऐसे अवसर मिलते कहाँ हैं ? पूज्य गुरुदेव फरमाया करते थे कि बगड़ी में धारीवाल परिवार के श्रावक लक्ष्मीचंदजी, जिन्होंने चातुर्मास करवाया। आचार्य पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज का, आचार्य पूज्यश्री गणेशीलालजी महाराज का और उन्होंने ही रायपुर में आचार्यश्री नानालालजी महाराज का चातुर्मास करवाया था, किन्तु बगड़ी की एक घटना मैं बताऊं। एक भाई को हैजे की बीमारी हो गई। सेठ और सेठानी स्वयं उसकी सेवा में जुट गए। यह नहीं कि नौकर के भरोसे छोड़ दिया। उन्होंने स्वयं उस बीमार को संभाला। ऐसे सेवा सजाने वाले विरले ही श्रावक होते है।

यह जयपुर जौहरियों की नगरी है, किन्तु यहाँ भी प्रसंग आने पर बड़े-बड़े श्रावकों ने, बड़े-बड़े घरों के युवाओं ने आगे बढकर पूरी जवाबदारी संभाली और अपनी स्थिति के अनुसार साधार्मिक सेवा की।

बन्धुओं ! कभी हम सोच लेते हैं कि हम ऐसे आरम्भ-सभारम्भ में क्यों पड़ें ? पर्व पर्युषण चल रहा है, हमें तो संवर करना है, पौषध करना है। यह सोचने की बात है कि किस समय कौन से दायित्व का निर्वाह करना है। स्वाध्याय साधु-जीवन का एक प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है, किन्तु उसके लिए भी शास्त्रकार सूचना करते हैं कि जैसे ही सूर्योदय होता है, शिष्य को चाहिए, साधु को चाहिए कि गुरु महाराज को वंदना-नमस्कार करे और वंदना-नमस्कार करते हुए निवेदन करे कि भंते ! मैं किस कार्य में संयुक्त होऊं ? मुझे कोई सेवा या वैयावृत्य का कार्य करना है या स्वाध्याय का कार्य करना है ? मैं कौनसे कार्य में अपने-आप को लगाऊं ? गुरु महाराज यदि कोई सेवा-वैयावृत्य का कार्य सौंपें तो अग्लान भाव से, मन में उतार-चढाव लाए बिना, मन में ग्लानि लाए बिना कि अरे ! मुझे ऐसा ओछा काम सौंप दिया ! और भी बहुत-से साधु थे, मैं तो पढा लिखा हूँ और मुझे स्वाध्याय रस ज्यादा आता है। मेरा स्वाध्याय छूट जाएगा। मन में यदि ऐसा उतार-चढाव रखकर वह सेवा करता है तो वह सेवा के लाभ से अपने-आप को वंचित रखता है। क्योंकि तब उसकी काया तो सेवा में लगी हुई होती है, किन्तु उसका मन सेवा में नहीं लगा हुआ होता है। ऐसा व्यक्ति, ऐसा साधक अपनी साधना

में प्रवीण नहीं हो सकता। यदि गुरु महाराज ने किसी रुग्ण की सेवा में लगा दिया और मान लो, उसके शरीर से रस्सी या पीप झर रहा है, उसे दस्त लग रही हैं, उसके मुँह से लार पड़ रही है, तो भी ऐसे रुग्ण साधु को भी अग्लान भाव से संभालना, उसकी सेवा करना और मन में किसी प्रकार का उतार-चढाव नहीं लाना। यदि ऐसी स्थिति बनती है तो समझना चाहिए कि उस साधक की साधना सम्यक् गति से आगे बढ़ी है और यदि ऐसे समय में कोई मुँह मोड़ता है, कोई ऊँचा-नीचा विचार करता है, काम को टालने की कोशिश करता है, सोचता है कि मैं यदि सामने रहूंगा तो ऐसे साधु की सेवा मुझे सौंप देंगे, अतः कोई दूसरा नियुक्त हो जाए, उसके बाद गुरुजी के सामने आऊं तो मेरा बचाव हो जाएगा, ऐसा सोच करके चलता है या टालमटोल करता है तो वह अपने साधु-जीवन को धूमिल करने वाला होता है, उसकी साधना सफल नहीं हो सकती। हमारे मन में समभाव की आराधना कैसे बनेगी ? चाहे कैसा ही निकृष्ट से निकृष्ट कार्य हो (हम जिसको निकृष्ट मानते हैं वस्तुतः वह निकृष्ट नहीं होता), उस कार्य को करने वाला अपने-आप में महान् बनता है। केवल फूलों की शय्या सोना ही महानता का प्रतीक नहीं है, समय पर रणभेरी बजे तब शस्त्रों को लेकर वीरों की अग्र कतार में खड़ा होना महानता का प्रतीक होता है। बहुत-से सम्राट् फूलों की शय्या पर सोने वाले होते थे, किन्तु वे समय पर फूलों की शय्या को छोड़कर कंटकाकीर्ण भूमि पर भी नग्न पैरों से चलने के लिए तत्पर रहते थे। इसलिए वे महान् हुए। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का हम स्मरण क्यों करते हैं ? क्या वे अयोध्या के राजा बनने वाले थे इसलिए ? नहीं, उन्होंने अयोध्या के राज्य को छोड़कर जंगलों की, वनों की धूल अपने पैरों से छानी थी और जनजागरण का अभियान चलाया था। इसलिए आज मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में उनके नाम का स्मरण किया जाता है।

तो बन्धुओं ! चिन्तन करने की आवश्यकता है कि केवल श्रोता बनने से काम नहीं चलेगा। परीक्षा वह होती है जिसमें उपभोक्ता के रूप में हमारी उपस्थिति दर्ज हो। यदि हम सुन रहे हैं कि कषाय नहीं करना है तो समय आने पर हम अपने-आप में उपशम भाव को कैसे बनाए

रखते हैं, इससे हमारी परीक्षा हो पाएगी। किसी ने गाली दे दी, उस समय भी आप दीवार की भांति, पृथ्वी की भांति अडिग बने रहें तो समझा जाएगा कि वस्तुतः आप केवल श्रोता नहीं हैं, बल्कि उपभोक्ता हैं। शास्त्रकार कहते हैं- पूढवी समो मुणि हविज्जा। मुनि को पृथ्वी के समान होना चाहिए। क्या होना चाहिए? पृथ्वी ! क्या जड़ हो जाए ? जड़ नहीं होना है। आपके चेतन होते हुए भी, सामर्थ्य होते हुए भी यदि कोई अपमान कर दे, तिरस्कार कर दे, गाली दे दे तो भी संयम बनाए रखें, क्रोध न आने दें और क्षमाशील बने रहें। भगवान महावीर कहते हैं कि हे साधक यदि तुमने भी प्रतिकार करने का सोचा और यह नीति अपनाई कि जो मेरे साथ जैसा व्यवहार करता है मैं भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार करूँगा और ईंट का जवाब पत्थर से दूँगा, तो तुम भी अज्ञानी के समान उनके सरीखे हो गए हो। फिर तुम्हारी क्षमता कहाँ गई ? वह तो मूढ था ही और तुमने भी मूढता में उससे दो कदम बढाए तो तुमने साधना करके पाया क्या ? तुमने क्या अपने जीवन को उन्नत बनाया ? इसलिए बन्धुओं ! यदि आप श्रोता हैं तो केवल श्रोता ही नहीं बने रहें, उपभोक्ता बनने की तैयारी भी करें और यदि आप उपभोक्ता हैं तो सात दिन या एक महीने प्रयोग कीजिए कि कोई व्यक्ति आपको कुछ भी कह दे, चाहे कितनी भी गलत बात कह दे, किन्तु फिर भी आपके मन में उस व्यक्ति के प्रति कोई द्वेष की भावना नहीं आए। आप में द्वेष की झलक भी दिखाई नहीं दे। अपने-आप में आप पूर्णतया आत्मनिष्ठ बनकर रहें। फिर देखिए कि आनन्द की कैसी लहर आती है और कैसी तृप्ति मिलती है। आप देखेंगे कि जब कोई मेरा प्रतिकार करता था और मैं भी उसका प्रतिकार करने में लग जाता था, कोई मेरा तिरस्कार करता था और मैं भी उसको अपमानित करने की सोचता था, उसमें जो आनन्द नहीं आ रहा था वह आनन्द अब आ रहा है।

एक बार एक सेठ ने पंचों की जाजम से अनुनय की कि मैं पूरी जाति को भोज कराना चाहता हूँ, पूरे समाज को जिमाना चाहता हूँ। पंचों ने अनुमति दे दी। उसने अच्छा भोजन बनवाया और मिठाईयाँ आज के तरीके से नहीं, पंचों की जो इजाजत हुई उसी के अनुसार मिठाईयाँ

वनवाई। रसोई बनी और उसने बड़े आदर भाव से अपने समाज के, जाति के लोगों को भोजन करवाया। वह स्वयं भी परोसगारी में जुटा हुआ था। अंत में जब पापड़ की परोसगारी कर रहा था, तब परोसते-परोसते एक जगह पहुँचा और पापड़ परोसा। वह पापड़ टूटा हुआ था। खांडा था। सेठ पापड़ परोस कर आगे बढ गया, किन्तु जिसको परोसा गया था उसने विचार किया कि इतनी भरी जमात में मेरी इज्जत लूट ली। सबको अखण्ड पापड़ दिया और मुझे खाण्डा पापड़। उसको बात लग गई। व्यक्ति दूसरे के घर में खाण्डा पापड़ खाकर उठ जाते हैं, लेकिन सगे भाई के घर में खाण्डा पापड़ परोस दिया जाए तो वह बात बहुत गहरी लग जाती है। भले ही दूसरे के घर में टुकड़े-टुकड़े किए पापड़ खा लें, लेकिन भाई के घर में नहीं खा सकते। अपनों की बात ज्यादा लग जाती है। दूसरा पत्थर फेंक दे तो उसको सहन कर लेंगे, लेकिन जो नजदीक का व्यक्ति है यदि वह पत्थर फेंक दे, पत्थर फेंके नहीं, किन्तु केवल पत्थर खिसका दे और वह पत्थर आकर ऊपर पड़ जाए तो कहेगा कि मेरे ऊपर पत्थर फेंका है, चलाकर फेंका है। यह नहीं सोचेगा कि वह क्या दुश्मन है जो चलाकर फेंकेगा ? यदि चलाकर फेंक भी दिया तो क्या तू बदला ले लेगा ? क्या करेगा ? इतनी चोट लग गई और तू भी पत्थर फेंक देगा तो क्या तेरी शान बढ जाएगी ? कहा गया है- "क्षमा बड़न चाहिए छोटन को उत्पात।" तुमको क्षमाशील बनना चाहिए। छोटे उत्पात करते हैं तो वे भी बड़े बनेंगे तो उनको भी बड़ों की सीख लगेगी और वे अपने उत्पात को छोड़कर क्षमाशील बन जाएंगे, परन्तु यदि बड़े भी क्षमाशील नहीं बनेंगे और उत्पात करते रहेंगे तो छोटों से हम कैसे अपेक्षा रखें कि वे क्षमाशील बनेंगे ?

बंधुओ ! उस सेठ ने अपने मन में गाँठ बांध ली और कुछ ही दिनों के बाद पंचों को आमंत्रित किया और कहा कि मैं भी समाज को जिमाना चाहता हूँ। उसकी आर्थिक स्थिति समझकर पंचों ने उसे समझाने का प्रयास किया, परन्तु वह बिगड़ गया। उसने सोचा कि पंच लोग भी जिधर पैसा होता है उधर झुक जाते हैं। किसी को इजाजत देते हैं और किसी को मना कर देते हैं। वे तो उसके भले के लिए कह रहे थे, लेकिन

उसका तो दृष्टिकोण ही बदला हुआ था। सोच रहा था कि ये पंच उसी सेठ से मिले हुए हैं। उन पंचों की कोई मिलीभगत नहीं थी, लेकिन उसका दृष्टिकोण बन गया था कि सारे के सारे मिले हुए हैं। स्थिति देखकर पंचों ने अनुमति दे दी, कहा- कराओ भोजन। जो खिलाना था वह मंजूर हो गया। उसने भी सबको भोजन करवाया, अच्छी तरह से परोसगारी की और जब पापड़ परोसने का नंबर आया तो वही सेठ नौकर को साथ लेकर पापड़ परोसने लगा। सबको पापड़ परोसते-परोसते उसी सेठ के पास पहुँचा और सोचा इसी ने मुझे खाण्डा पापड़ परोसा था। वहाँ पहुँचकर उसने टोकरी में चूर-चूर कर पापड़ परोसा। पर उसके तो कोई फरक नहीं पड़ा था। इसे मजा ही नहीं आया। इतना पैसा बर्बाद कर दिया, व्यर्थ गया। मजा कब आता ? जब सेठ का कलेजा जलता, उस सेठ के दर्द होता तो उसको मजा आ जाता, पर सेठ का कलेजा नहीं जला तो मजा नहीं आया। इतना-सारा पैसा उसने खर्च किया था इसलिए टेढी आँख करके कहा- सेठ साहब, याद है आपने मुझे खाण्डा पापड़ परोसा था तो आज मैंने भी आपको खाण्डा पापड़ परोसा है। सेठ ने कहा- "अरे भले आदमी, इसी के लिए यह सारा रंग रचाया है क्या ? खाण्डा पापड़ का बदला लेने के लिए जमीन-जायदाद को बेचकर यह खेल किया है ? भले आदमी जरा समझ तो सही, मैंने कोई जान-बूझकर खाण्डा पापड़ नहीं परोसा था। मैंने वैसा किसी दुर्भावना से नहीं किया था जो तुमने मुझे आधा पापड़ परोसा है। पर मुझे कोई शिकायत नहीं है। आधा पापड़ भी मुँह में रखा नहीं जाता है। आधा पापड़ मुँह में रखें तो लोग कहेंगे कि पापड़ खाना जानता ही नहीं है। पापड़ तो टुकड़े करके ही मुँह में खाते हैं, लेकिन आधा पापड़ एकाएक मुँह से लगता नहीं है। भाई, तुमने उपकार किया, मुझे इतना भी परिश्रम नहीं करना पड़ा। मुझे अब पापड़ तोड़ना भी नहीं पड़ेगा। तुमने तो मेरी सुविधा कर दी है, पापड़ भी तोड़कर परोसा है।"

श्रोता वनने में वहुत आनन्द है, लेकिन उपभोक्ता बनते समय ये सारी वातें हम क्यों भूल जाते हैं ? उस समय मूँछ का वाल नीचे हो जाए, यह चिन्ता क्यों हो जाती है ? मेरी वात 21 रहनी चाहिए और उस वात

को 21 रखने के लिए हम क्या-कुछ नहीं कर गुजरते हैं ? आज के युग में इन ऊपर की सारी मूंछों का सफाया हो चुका है, लेकिन फिर भी इस मूँछ का बाल ऊँचा रखा जाए, यह चिन्ता रहती है। इस मूँछ के बाल को ऊँचा रखने के लिए समाज के भीतर कैसी-कैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं। छोटी-छोटी बातों को लेकर व्यक्तिगत बातों को लेकर, हम समाज के टुकड़े करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। हम सोचते हैं, समाज से हमें क्या लेना-देना, हमारी बात ऊँची रहनी चाहिए, हमारी मूँछों का बाल ऊँचा रहना चाहिए। धिक्कार है ऐसी मानसिकता पर, तुम्हारी बुद्धि पर लानत है, मूँछों के बाल को देखा, समाज को नहीं देखा, राष्ट्र को नहीं देखा ? आज यह जो कुछ हो रहा है उसके दुष्परिणाम भी सामने आ रहे हैं। हमारी स्थिति गर्त में जा रही है।

बंधुओ ! पर्व पर्युषण के शुभ अवसर पर आप इस स्थिति पर गंभीरता से चिन्तन करें तथा उपभोक्ता बनने की प्रेरणा प्राप्त करें। एवन्तामुनि अतिमुक्तक कुमार गेंद खेल रहे हैं। अचानक कौन आ गये ? गणधर गौतम स्वामी, जिन्होंने भगवान महावीर को वंदना करने के बाद कहा था- इच्छामि णं भंते। तुब्भेहिं अब्भणुणाए समाणे भिक्खायरियाए जाव अडमाणे ....

मेरी इच्छा है, यदि आपकी आज्ञा हो जाए तो मैं भिक्षाचर्या के लिए जाऊं। आज्ञा मिल जाने पर वे भिक्षा के लिए घूमने निकलते हैं और वहाँ पहुँच जाते हैं। अतिमुक्तक कुमार जैसे ही गणधर गौतम को देखते हैं, उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाते हैं। वालक हैं, 8 वर्ष की वय है। वे गेंद को छोड़कर गौतम स्वामी के पास आते हैं और पूछते हैं- आप कौन हैं ? उत्तर मिलता है-''मैं श्रमण भगवान महावीर का शिष्य हूँ।'' बालक पुनः प्रश्न करता है-''कहाँ पधार रहे हैं ?'' भिक्षा के लिए जा रहा हूँ। वालक का आग्रह- चलिए मेरे घर, मैं आपको वहुत-सी भिक्षा दिलाऊंगा। वालक अंगुली को पकड़ लेता है और अंगुली पकड़कर चलता है।

कभी-कभी कुछ जिज्ञासाएँ हमारे मन में आ जाती हैं। जैसे शास्त्रों में मुँहपत्ती का निर्देश तो मिलता है, किन्तु डोरी का उल्लेख कहीं

पर नहीं है। यह डोरी आपने कहाँ से बांध ली ? यह भगवान की आज्ञा है, यही समझें। भगवान महावीर ने भगवती सूत्र में कहा है खुले मुँह बोलना सावद्य भाषा है। इसलिए सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं करना है, यदि मुँहपत्ती हाथ में रखकर हम सावधानी रख सकते हैं तो कोई आवश्यकता नहीं है डोरे की, परन्तु यदि उतनी सजगता नहीं रह पाती है तो हमें तो भगवान महावीर के वचनों की पालना करनी है, खुले मुँह नहीं बोलना है, सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं करना है, इसलिए हमने डोरे का उपयोग कर लिया है। इस प्रकार भगवान महावीर के वचनों की पालना होती है। मान लीजिए, कहीं पर कोई तेजस्वी तपस्या में रत है। उसे पानी की आवश्यकता पड़ गई है। वहाँ किसी से पानी लाने के लिए कहा। उसे बताया कि तपस्या चल रही है इसलिए मैं घर पर नहीं आ सकता। अब पानी लाने वाला क्या हाथ में पानी भरकर लाएगा ? कैसे लाएगा ? कमण्डल में ? पात्र में ? जग में या गिलास में या लोटे में या केतली में ? नहीं तो आजकल बोतल आती है मिनरल वाटर की। उस बोतल में भरकर ले आएगा। पर लाएगा तो किसी-न-किसी साधन में ही, बिना साधन तो पानी आएगा नहीं। उसके लिए कोई-न-कोई साधन चाहिए। वैसे ही भगवान महावीर ने कहा है कि वचन खुले मुँह नहीं बोलना चाहिए। खुले मुँह से बोलने वाली भाषा सावद्य होती है। हमसे इतना उपयोग नहीं हो पाता है कि मुँहपत्ती हर समय हाथ में बनाए रखें। प्रमाद हो जाता है। इसलिए हमने डोरे का उपयोग कर लिया। यों भी समझें। आप यहाँ बोलने के लिए खड़े होते हैं, हाथ में रूमाल रखकर खड़े होते हैं, पर हाथ क्या मुँह पर बराबर बना रहता है। स्पष्ट है, नहीं। इसीलिए भगवान की बात भी रह जाए, आज्ञा का पालन भी हो जाए और जीवों की विराधना भी नहीं हो, इसलिए मुँहपत्ती के साथ उस डोरे का उपयोग कर लिया गया। इस प्रकार संयम के साधन का उपयोग कर लिया। यदि संयम की रक्षा के लिए कोई उपकरण काम में लिया जाता है तो उसके लिए भगवान का कहीं कोई विरोध हो, ऐसा परिलक्षित नहीं होता।

वह अतिमुक्तक, महाराज गौतम स्वामी को अपने घर ले गए। माता श्रीदेवी ने पूछा- क्या ले आया वालूड़ा ? माता देखती है कि वह

महाराज को लेकर आया है। माता श्रीदेवी प्रसन्न हो गई कि बालूड़ा मेरे घर में गौतम स्वामी जैसे महाराज को ले आया है। माता हर्षित हुई। बालक जो भी क्रिया करता है, काम करता है, जब वह माता उसको देखती है, उसके कार्य से माता कितनी हर्षित होती है या माता दुख व्यक्त करती है ? यदि माता हर्ष व्यक्त करे तो बालक में वैसी वृत्ति बढती चली जाती है। एक बालक पैंसिल चुराकर ले आया। माता हर्षित होती है तो बालक कभी पेन, कभी कॉपी चुराकर लाएगा। बड़ी-बड़ी डकैती डालेगा। यदि एक बालक संतों के दर्शन करता है। माता बड़ी खुश होती है तो वह संतों के दर्शन करने के लिए प्रेरित होगा। उसकी वृत्ति संत के अनुसार बन जाएगी। बालक को कैसा बनाना ? संत, श्रोता या सरोता, यह माता की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। आचार्य प्रवर युगद्रष्टा पुज्यश्री जवाहरलालजी म.सा. फरमाया करते थे कि माता बालक के लिए पहली गुरु होती है। धर्मगुरु और अध्ययन कराने वाले टीचर बाद में होते हैं। सबसे बड़ी गुरु माता होती है। माता श्रीदेवी ने सोचा कि इसने भला काम किया है और जब भिक्षा के बाद पूछा कि भगवन कहाँ जाओगे ? तो उत्तर मिला- मैं अपने गुरु के पास, धर्मगुरु, धर्माचार्य के पास जाने की तैयारी कर रहा हूँ। तब अतिमुक्तक कुमार ने कहा कि मैं भी आपके साथ चलना चाहता हूँ और साथ हो गया। भगवान के पास पहुँचे और पहुँचने पर अतिमुक्तक कुमार ने जब भगवान महावीर को देखा तो देखता ही रह गया। फिर भगवान महावीर की वाणी भी सुनी। वाणी-श्रवण का उस छोटे-से बालक पर ऐसा चमत्कारिक प्रभाव पड़ा जैसा बड़ों-बड़ों पर भी नहीं पड़ता है। सारी बात संस्कारों और भावना की होती है। अतिमुक्तक कुमार केवल एक वचन सुनकर सिर्फ श्रोता नहीं रहे, उपभोक्ता बन गए और माता से आकर कहने लगें कि माँ! मैं तो दीक्षा लूँगा। माँ को बालक की बात सुनकर हँसी आ गई। वह बोली - तुम अभी संयम को क्या जानो ? तुम तो यह गेंद लो और खेल खेलो। तब अतिमुक्तक कुमार ने कहा- जं चेव न जाणामि। तं चेव जाणामि, तं चेव जाणामि, जं चेव न जाणामि।

माता- यह कैसी पहेली बुझा रहे हो ? मैं ऐसी पहेली नहीं समझ रही हूँ।

अतिमुक्तक कुमार- माता यह पहेली नहीं है, बल्कि जीवन का सत्य है।

माता- बेटा, संयम का मार्ग इतना आसान नहीं है। नंगी तलवार पर चलना आसान है, पर संयम-मार्ग पर चलना दुरूह है।

कुमार ने कहा- माँ, तुम्हारी बात सत्य है, पर इससे मुझे प्रेरणा ही मिली है। कायर व्यक्ति ही ऐसी बात सुनकर कम्पायमान हो सकता है, वीर नहीं। मैंने तुम्हारा दुग्धपान किया है, किसी कायर माता का नहीं। इसलिए तुम्हारे द्वारा दर्शायी गई बात को सुनकर मेरा पौरुष मुझे उस पर अग्रसर होने को ही प्रेरित करता है।

माता- बेटा, लोहे के चने चबाने के समान यह संयम-मार्ग कठिन है। तुम्हारे दाँत मोम के समान हैं इसलिए यह मार्ग तुम्हारे योग्य नहीं है।

पुत्र- नरक गति में मेरी आत्मा ने कितनी कठोर यातनाएँ सही हैं, उससे बढकर लोहे के चने चबाना कठिन नहीं है।

बंधुओं ! माता और पुत्र का संवाद आप सुन चुके हैं और यह तो वर्तमान में सुनते रहे हैं। आज यदि कोई दीक्षार्थी दीक्षा के लिए तैयार होता है तो परिवार वाले, आज के माता-पिता समझाइश करते हुए कहते हैं- कांई पड़्यो है साधुओं में, आपस में मुनियां में ही क्लेश भरा है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ बोलता है। लेकिन श्रीदेवी माता ने आज की माता की तरह यह नहीं कहा कि साधु बनकर क्या करेगा ? वे तो आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। अब आप सोचिए कि क्या ऐसा कहना उचित है ? व्यक्ति व्यापार करने के लिए तैयार होता है तो कई व्यक्ति दिवालिए हो जाते हैं और कई व्यक्ति पैसे लगाकर गलत संगति या अपनी नासमझी के कारण अपनी सारी पूँजी गंवा बैठते हैं, तो क्या लोग व्यापार करना बंद कर देते हैं ? लड़कियों की शादी होती है और बड़े अच्छे-अच्छे मुहूर्त निकाले जाते हैं। फिर भी यदि कोई लड़की विधवा हो जाए तो क्या लोग यह तय कर लेते हैं कि आगे से कोई अपनी लड़की की शादी नहीं करेगा ? विचार कीजिए कि ऐसा क्यों होता है और क्या

यह उचित है ? यदि कहीं, कभी, किसी कारण से किसी अच्छे कार्य का अच्छा परिणाम नहीं निकलता है तो आप इस भय से कि अच्छा परिणाम नहीं निकलेगा, अच्छा काम करना बंद कर देते हैं ? फिर पता नहीं क्यों, दीक्षा लेने की आज्ञा मांगते हैं तो कहते हैं- कांई पड़्यो है दीक्षा में। क्या आपको अपने जिगर के टुकड़े पर विश्वास नहीं है ? क्या आपका जिगर का टुकड़ा भी दिवाला निकालेगा ? आप अपने जिगर के टुकड़े पर विश्वास कीजिए। आप उसको संयम-मार्ग की तकलीफें बता सकते हैं, संयम-जीवन कठिन है, संयम-जीवन पर चलना लोहे के चने चबाने जैसा है - यह भी कह सकते हैं, पर जो संयम-जीवन पर चढ जाता है वह प्रेम रस को प्राप्त कर लेता है। नहीं चलता है तो जिन्दगी क्या रह जाती है, ऐसी बातें भी समझाइए ? पर ये बातें आप स्वयं समझें तभी समझा सकते हैं। आज स्थिति यह है कि हम राजनीति और दूसरी तरह की बातें खूब जानते हैं, तेरी-मेरी भी जानते हैं। लेकिन धर्म की, ज्ञान की, दर्शन की बातें नहीं जानते हैं। बंधुओं, अपनी प्रवृत्ति को बदलिए, अपने धर्म की स्थापना और धर्म के विरोध का प्रतिकार आप तब ही कर पाएँगे जब आप अपने धर्म की बात गहराई से जानते होंगे। यदि अपनी एक संतान को आप धर्म-मार्ग में लगाते हैं तो आप कितना पुण्य कमाते हैं, आप नहीं, आपके परिवार के कितने सदस्य धर्म के सम्मुख हो जाते हैं।

बंधुओं ! चिन्तन करने की आवश्यकता है, यदि आपके सामने धर्म के लिए चुनौती आ जाए तो ऐसे समय में हमें कपड़े फाड़ने की आवश्यकता नहीं है। उस चुनौती को झेलने का प्रयत्न कीजिए, किन्तु उसके लिए शास्त्रों का गंभीर ज्ञान होना आवश्यक है। बिना शास्त्रों के स्वाध्याय की आप चुनौती नहीं झेल सकते। यदि आपके पास शास्त्रों का ज्ञान नहीं है तो आप चुनौती का जवाब कैसे देंगे ? अतः जो शास्त्रों के अच्छे मर्मज्ञ हों, ऐसे श्रावकों की, ऐसे विद्वानों की आज बड़ी आवश्यकता है।

आज हमारे समाज में लड़ाई-झगड़े हो रहे हैं। परिणामस्वरूप हमारी शक्ति समाज के लड़ाई-झगड़ों में लग रही है। वह शक्ति हमको शास्त्रवाचन में लगानी चाहिए। उस शक्ति का यही सदुपयोग है। माता श्रीदेवी ने देख लिया कि अतिमुक्तक कुमार को धर्म का रंग ऐसा लग

गया है कि अब इसके ऊपर संसार का रंग चढ नहीं पाएगा। इसने एक व्याख्यान में तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है।

अतः माता श्रीदेवी उन्हें भगवान महावीर के पास ले गईं और दीक्षा दिलवा दी। दीक्षित होकर ऐवंतामुनि ने क्या किया ? नाव तिराई। हाँ, पूज्य गुरुदेव इस दिन फरमाया करते थे-

ऐवंता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में
पोलाशपुरी नगरी का राजा विजयसेन भोपाल
श्रीदेवी अंग उपन्यासरे ऐवन्ताकुमार जी।

ऐवन्ताकुमार बहते पानी में छोटी पातरी डालकर कहने लगे- "नाव तिरे मेरी नाव तिरे।" उनके ऐसे कृत्य पर संतों के मन में विचार भी पैदा हुआ। पर भगवान के समाधान से वे सावधान हो गए। हकीकत में ऐवन्ताकुमार चरमशरीरी थे। उस घटना से उनका अन्तर जाग्रत हो गया। इसलिए हमको भी ऐवंतामुनि का अनुसरण करना है। यदि हम वैसा करेंगे, अपने दर्पण में अपनी छवि को देखकर नाव को तिराने की तैयारी करेंगे तो वस्तुतः हम अपनी जिन्दगी को सफल कर पाएँगे अन्यथा स्थिति वैसी की वैसी ही रहेगी। इसलिए हम चिन्तन करें, मनन करें और केवल श्रोता नहीं बनें, हम केवल परीक्षा देने के लिए परीक्षार्थी नहीं बनें, हम उपभोक्ता भी बनें। ऐवन्ताकुमार मुनि की तरह सच्चे मायने में उपभोक्ता बनें, जिन्होंने सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लिया था। हम भी वैसे ही 'श्रेष्ठ श्रोता बने उपभोक्ता' की उक्ति को चरितार्थ करें। उस प्रकार से वीतराग वाणी को अपने कण्ठ में उतार कर यदि जीवन में अमृत को ग्रहण करेंगे, तो हमारा जीवन भी मंगलमय बनेगा।

01.09.2000

❖ ❖ ❖

8. खामेमि सव्वे जीवा.....

परमात्मा के चरणों में कवि ने एक विनती रखी है- "प्रभु मेरा हृदय गुण-सिन्धु हो जाए, मेरा यह हृदय गुण-सिन्धु वन जाए। ढूंढने पर भी इसमें ईर्ष्या का कोई क्षुद्र परमाणु भी प्राप्त नहीं हो।" दूसरे की बढ़ती को देखकर मन अवसाद को भी प्राप्त होता है, किन्तु कवि ने भावना व्यक्त की कि भगवान मेरे हृदय में अवसाद की भावना नहीं जगे, बल्कि प्राणीमात्र को विकास-क्रम में, उन्नत अवस्था में देखकर मेरा हृदय हर्ष से गद्गद् हो जाए, हर्ष से सराबोर हो जाए।

वन्धुओं ! आज संवत्सरी पर्व है। विभिन्न वक्ताओं के माध्यम से आपने संवत्सरी पर्व की महिमा सुनी है, विभिन्न तौर-तरीकों से आपके समक्ष अनेक प्रकार की वातें आई हैं। जरा हम विचार करें कि संवत्सरी पर्व की आराधना कैसे की जाए ? हम पर्व मनाने की तैयारी कर रहे हैं, लकीर के फकीर बनकर चल रहे हैं या यथार्थ में हम पर्व से कुछ प्राप्त करना चाहते हैं ? हम यथार्थ में पर्व की आराधना करना चाहते हैं या यह सोचकर कि यह जैनियों का एकमात्र पर्व है इसलिए हम जैनियों को धर्मस्थान में पहुँचना चाहिए, संतों के दर्शन करने चाहिए और एक-दूसरे को खमाऊँसा-खमाऊँसा कहना चाहिए ? यदि केवल इतना-सा ही संवत्सरी पर्व को हमने मान लिया है तो यह हमारी बहुत वड़ी भूल है। संवत्सरी पर्व केवल हम ही नहीं मना रहे हैं, इसकी आराधना तीर्थकर देव, गणधर देव और पूर्व के आचार्य भी करते रहे हैं। वे भी इसकी आराधना करते रहे हैं और उन्हीं की परम्परा के अनुसार आज हम भी संवत्सरी पर्व की आराधना करने के लिए उद्यत हुए हैं।

वन्धुओं ! संवत्सरी पर्व कोई खाने-पीने का, मौज-शौक का पर्व नहीं है, इसके माहात्म्य को ध्यान में लाने की आवश्यकता है। आपने सुना होगा, कुछ वर्षों पहले ब्राजील में एक सम्मेलन हुआ था और उस

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे
मित्ति में सव्व भूएसु वैरं मज्झं न केणइ।

सभी जीवों से मैं क्षमायाचना करता हूँ और सभी जीव मुझे क्षमा करें। मैं भी सभी जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ। यह सामान्य बात नहीं है इससे प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री-भाव को जागृत किया जाता है। मनुष्य भावनाशील प्राणी है। उसके मन में स्थितियों की व्यापक प्रतिक्रिया लगातार होती रहती है। किसी के प्रति राग के विचार, किसी के प्रति द्वेष के विचार, किसी के प्रति ईर्ष्या के विचार, किसी के प्रति डाह के विचार, एक-दूसरे को गिराने के, ठगने के विचार, छल-प्रपंच के विचार, न जाने कितने प्रकार के विचार हमारे भीतर पनपते रहे हैं और प्रकट होते रहे हैं। उन विचारों में हम जितना चाहते हैं उतना संशोधन नहीं कर पाते हैं। संशोधित नहीं हो पाने की वजह से वे विचार ग्रन्थि का रूप लेने लगते हैं।

बन्धुओं, आज के दिन हम चिन्तन करें और तो और पारम्परिक रूप से नहीं, बल्कि यथार्थ में संवत्सरी पर्व की आराधना करें। आराधना के स्वरूप में, प्रतिक्रमण के पहले, आप अपना टाइम निश्चित कीजिए और बन सके तो 15 मिनट का समय लीजिए। 15 मिनट में जैसे आपके सामने टी.वी. चलता है, फिल्म चलती है, उस फिल्म के स्थान पर आप स्वयं को उपस्थित कीजिए। आँखें बंद कर लीजिए और बंद आँखों के सामने अपनी तस्वीर खड़ी कर लीजिए। तस्वीर से मतलब कहीं फोटो मत समझ लेना। आप स्वयं वहाँ पर खड़े हो जाएं। फिर अपने जीवन की रील को स्वयं के सामने चलाना शुरू कर दीजिए। फिर देखिए, आपने कब-कब, किस-किस के साथ काम-क्रोध की भावना से या उत्तेजनावश अनुचित व्यवहार किया है, अपने अहंकार के कारण किसी को चोट पहुँचाई है, किसी के विरुद्ध प्रपंच में पड़ा और किसी के हित के विरुद्ध काम किया है और कितनी-कितनी हिंसा की है। यह भी देखिए कि आपने अपनी इस जिन्दगी में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की केवल कायिक हिंसा नहीं, वाचिक हिंसा और मानसिक हिंसा भी की है। इस प्रकार की पूरी फिल्म अपने सामने प्रदर्शित कीजिए और देखिए कि आपने कितना झूठ बोला है और कितनी चोरी की है। आपकी आँखों

के सामने यह चित्रण भी आना चाहिए कि पर-स्त्री के साथ, बहनों के साथ आपका कैसा व्यवहार रहा है। जिन नारियों को आपने देखा, उनके बारे में आपके कैसे विचार बने। परिग्रह के संबंध में आपकी आसक्ति किस प्रकार की रही। इस प्रकार जब आप अपने चलचित्र में अपनी उन सारी अवस्थाओं को अपनी आँखों से देखें तब अपने- आप में विचार कीजिए कि आपने कितना उचित किया और कितना गलत किया। जो-जो गलत किया हो, उस पर अनंत सिद्धों की साक्षी में, अरिहन्त भगवान की साक्षी में हार्दिक पश्चात्ताप करने का प्रयास कीजिए। इस प्रकार यदि अनुचित को समाप्त किया जाता है तो वस्तुतः जीवन में और हृदय में पवित्रता आने की स्थिति बनती है और तभी संवत्सरी पर्व मनाने की सार्थकता भी होती है।

अनेक बार हम भ्रान्तियों के कारण से कुछ गलत कर बैठते हैं। एक व्यक्ति अस्पताल में आ रहा है और अस्पताल के बाहरी क्षेत्र में खड़े तीन डॉक्टर उसे देखते हैं। तीनों डॉक्टर हड्डी रोग के विशेषज्ञ हैं। वह आने वाला व्यक्ति लंगड़ा कर चल रहा है। उसे देखकर एक डॉक्टर कहता है- इसके घुटने में दर्द है। दूसरा कहता है- इसकी कमर में तकलीफ है। तीसरा कहता है- मैं अच्छी तरह विचार करके कहता हूँ कि इस व्यक्ति को साइटिका की बीमारी है। इसी बीच वह व्यक्ति उनके नजदीक पहुँच जाता है। तीनों डॉक्टर उससे पूछते हैं- भाई, तुम्हें बीमारी क्या है। वह कहता है- बीमारी ? मुझे तो कोई बीमारी नहीं है। डॉक्टर कहते हैं- तब तुम लंगड़ाकर क्यों चल रहे हो ? वह जवाब देता है कि मेरी चप्पल की पट्टी टूट गई है इसलिए थोड़ा-सा चप्पल को रगड़कर चल रहा हूँ। अब विचार कीजिए कि एक स्वस्थ व्यक्ति के बारे में भी डॉक्टरों की कैसी राय बन जाती है। ऐसा केवल डॉक्टरों के साथ ही नहीं होता है, बल्कि हम भी अपने जीवन-व्यवहार में ऐसा करते हैं। हम भी अनेक व्यक्तियों के प्रति ऐसे दृष्टिकोण बना लेते हैं, भ्रान्त धारणाएँ निर्मित कर लेते हैं और उन्हीं के आधार पर ऐसी-ऐसी बातें कह दी जाती हैं जो परिवार में, समाज में शान्ति भंग करने का कारण बन जाती हैं। आपको याद होगा कि इस जयपुर में ही जब पूज्य गुरुदेव आचार्य भगवान

नानालालजी महाराज साहब यहाँ पर लगभग 27-28 वर्ष पूर्व फाल्गुनी चातुर्मास के लिए पधारे थे, तब यहाँ पर एक कॉलेज को लेकर झगड़ा चल रहा था। दो पार्टियाँ बन गई थीं और दोनों पार्टियाँ अपने-अपने दावे प्रस्तुत कर रहीं थीं। आचार्य भगवन् के समक्ष उन पार्टियों ने निवेदन किया कि भगवन् अब तक हमने कई संत-महापुरुषों के समक्ष ये बातें रखीं हैं, लेकिन समाधान नहीं हो पाया है। अब हम आपसे निवेदन करते हैं कि आप जो निर्णय दे दोगे, उस निर्णय को हम स्वीकार कर लेंगे। तब आचार्य भगवन् ने कहा- देखिए मैं कोई निर्णय देने की स्थिति में नहीं हूँ, आपको ही निर्णय लेना हैं। किसी मध्यस्थ को बीच में रख लीजिए और आपस में बातचीत कर लीजिए। वे आपस में बैठे। परस्पर बातचीत की और गुरुदेव के पास आकर निवेदन करने लग गए कि गुरुदेव 60 प्रतिशत झगड़ा हमारा समाप्त हो गया है। केवल बातों की बातें थीं। हुआ यह था कि बातें बनाने वाले उधर जाकर कह देते थे कि वे आपके लिए ऐसा बोल रहे थे और इधर आकर कह देते थे कि वे आपके लिए ऐसा बोल रहे थे। बस, ऐसे आग लगाने वालों के कारण बिना किसी बात के झगड़ा बढा था। आपस में बैठकर बात की तो गलतफहमियाँ दूर हो गईं।

बन्धुओं ! बात परस्पर विश्वास करने की है, परन्तु लोग विश्वास ही नहीं करें तो मैत्रीभाव कहाँ से बने ? आज व्यक्ति के मानसिक कलुष को समाप्त करने की आवश्यकता है। इसके लिए भगवान महावीर के बताए रास्ते पर चलें। संवत्सरी के माध्यम से मानसिक शान्ति का रास्ता तैयार करें। हम आज संवत्सरी को समझ नहीं पा रहे हैं, इसलिए केवल उसका एक औपचारिक रूप लेकर चल रहे हैं। हमने ज्यादा से ज्यादा उपवास कर लिए, पौषध कर लिये, प्रतिक्रमण कर लिये, ज्यादा हुआ तो खमाऊंसा कह दिया। जिनके साथ कोई मनमुटाव नहीं है उनके साथ तो कर लेंगे खमाऊंसा, परन्तु जिनके बारे में अपने मन में ऐसे भाव रखते हैं कि अमुक व्यक्ति के मेरे प्रति विचार शुद्ध नहीं हैं और वह व्यक्ति यदि सामने आ जाता है तो उस समय उसे खमाऊंसा भी कहेंगे या नहीं ? यदि कहते भी हैं तो पूरा दिल साफ करके क्षमायाचना करते हैं या केवल औपचारिक रूप से खमाऊंसा करके चलने का प्रयत्न

करते हैं ? मुँह से तो कह दिया, लेकिन मन साफ नहीं है। भगवन् ने बहुत पहले ही कह दिया है कि यदि सामने वाला क्षमायाचना करता है तो उसकी आराधना होती है, परन्तु जो अपना कषाय उपशांत नहीं करता, उसकी आराधना नहीं होती। अतः आप अपने भीतर के सारे कचरे को बाहर निकालकर, इस प्रदूषण को बाहर फेंक कर इसको समाप्त कीजिए। इसको जला डालिए ताकि फिर इसकी कोई गंध आपके भीतर प्रकटे नहीं। यह नहीं कि कचरे को नीचे दबाकर रख दें। यदि कचरे को नीचे दबाकर रखेंगे तो गंध फूटेगी और वह आपको बेचैन कर देगी। इसलिए उस कचरे और प्रदूषण को अंदर दबाने की बजाय उसको समाप्त करके आज से फिर नया जीवन शुरू कीजिए। विश्वास कीजिए कि आपके भीतर मन में कोई रोग फिर उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार से इस कचरे को समाप्त कर देंगे तो आप देखिएगा कि आपका जीवन कितना हल्का और शान्त हो जाता है, कितना तनाव अपने-आप में समाप्त हो जाता है। संवत्सरी पर्व वर्ष में एक बार आता है और गुणीजनों ने यह बात कही है कि उस दिन यदि कोई अपना वैर-विरोध उपशांत नहीं कर पाता है तो उसके सम्यक्त्व का भी निर्मल रहना कठिन है, उसका जागरण, उसका आत्मबोध बना रहना भी संभव नहीं है।

बन्धुओं ! विचार कीजिए कि हम क्या करने जा रहे हैं ? आने वाले तूफान से भीतर के दीए को बचाना चाहते हैं या नहीं ? अपना आत्मबोध बरकरार रखना चाहते हैं या नहीं ? आंधी, तूफान आ रहा है, यदि हमारी आत्मा का दीपक बुझ गया तो भयंकर आंधियों की अवस्था में, अंधकार की अवस्था में हम भटक जाएंगे, खो जाएंगे। इसलिए यदि आने वाले समय की स्थिति को देखते हुए हम अपने-आप को मजबूत बना लेते हैं और अपना दीपक प्रज्वलित रखते हैं तो कितना ही भयंकर आंधी-तूफान आए, हमारा प्रकाश हमारे साथ में होगा। हमारा प्रकाश यदि हमारे साथ में होगा तो अंधकार में भी हम देखकर चल सकेंगे, अंधकार में भी टक्कर नहीं खाएंगे, ठोकरें नहीं खाएंगे और बच जाएंगे।

बन्धुओं ! संवत्सरी पर्व जहाँ मैत्रीभाव को बढाने वाला है, वहीं कहीं-कहीं यह जैनियों के लिए झगड़े और क्लेश का कारण भी बन

चुका है। आज हम जैनी एक साथ इस एक पर्व को नहीं मना सकते, यह विचारणीय बात है। जैन समाज की तुलना शायद दूसरे समाज से नहीं की जा सकती। जैन समाज इतना शान्तिप्रिय समाज है, किन्तु फिर भी एक साथ संवत्सरी पर्व की आराधना करने के लिए तैयार नहीं है। आवाजें उठती हैं, समन्वय की बातें होती हैं, संवत्सरी एकता की बात भी होती है, किन्तु समय आने पर सारी बातें भुला दी जातीं हैं। अनेक बार प्रयत्न किए गए, किन्तु ढाक के तीन पात वाली कहावत चरितार्थ होती है। कोई उदय पक्ष की बात कहता है, कोई अस्त की बात कहता है, इस प्रकार हर कोई अपना पक्ष मजबूत करने वाली बात मनवाना चाहता है। इस स्थिति पर विचार करने की आवश्यकता है। आचार्यदेव (स्व. श्री नानालालजी म.सा.) ने ऐसे प्रसंग पर अपनी पूर्ण उदारता का अनेक बार परिचय दिया है। जहाँ पर भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण दिवस समारोह की बात चल रही थी, उस समय भी आचार्यदेव ने यही बात कही कि यदि एकता का सूत्रपात करना है तो संवत्सरी सबसे पहले एक होनी चाहिए। इससे मूल महाव्रतों को कोई ठेस भी नहीं पहुँचती है और एक दिन आराधना करने से पूरा जैन समाज एक होता है। संवत्सरी एक होने से समाज-एकता में एक महत्वपूर्ण कड़ी जुड़ जाएगी। सम्पतलालजी गदइया, सरदारशहर वाले, भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव समिति के सचिव या मंत्री रहे होंगे, उनको विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि उन्होंने यह सुन रखा था कि आचार्य नानालालजी कट्टरवादी हैं, वे पुराने सिद्धान्तों को पकड़कर चलने वाले हैं। उन्होने आचार्यश्री के मुँह से यह बात सुनी कि संवत्सरी एक होनी चाहिए तो उन्होंने कहा कि आचार्यश्री क्या आप इसके लिए तैयार हैं ? आचार्यश्री ने कहा कि गदइयाजी, यदि पूरे जैन समाज की एक संवत्सरी होती है तो जो दिन भी निश्चित होगा उस दिन संवत्सरी मनाने की मेरी पूरी तैयारी है। सम्पतलालजी विश्वास नहीं कर पाए। उन्होंने कहा कि गुरुदेव क्या यह बात मैं राजकीय स्तर पर जो समिति बनी हुई है उसके बीच में कह दूँ ? आचार्यश्री ने कहा कि मैं जो बात कह रहा हूँ, मैं कोई राजनीतिक स्टेज से नहीं कह रहा हूँ। जो बात कह रहा हूँ उसको पूर्ण करने का मेरे भीतर पूरा भाव रहा हुआ है और उसी के आधार पर मैं अपनी बात कह रहा हूँ। कालांतर

मैं जब सम्पतलालजी वापस मिले और गुरुदेव ने कहा कि क्या हुआ तो उन्होंने कहा- गुरुदेव जैसा आप फरमाते हैं, उसी प्रकार यदि अन्य महापुरुष भी कह देते तो संवत्सरी एकता बन जाती, परन्तु ऐसा नहीं हो सका।

एक बार आचार्यदेव का आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज साहब के साथ मिलने का प्रसंग आया और वहाँ भी वार्तालाप के दौरान आचार्यदेव ने कहा कि आचार्यश्री, यदि पूरे जैन समाज की संवत्सरी एक होती है तो अपने को तैयार रहना चाहिए। पर यदि पूरे जैन समाज की तैयारी नहीं होती है और श्वेताम्बर समाज एक रहता है तो भी अपने को एकता रखनी है, परन्तु यदि श्वेताम्बर समाज एक नहीं होता है और स्थानकवासी समाज भी एक होता है तो भी अपने को संवत्सरी के लिए तैयारी रखनी है और उन्होंने यह उद्घोषणा समाज के सामने भी की। बन्धुओं ! इस प्रकार की उद्घोषणा कर देना अलग बात है और उस पर कटिबद्ध रहना अलग बात है। आचार्यदेव ने ऐसे प्रसंग पर भरपूर उदारता दिखाई है। इसी प्रकार देवगढ में जब आचार्य तुलसी से मिलने का प्रसंग आया तब रास्ते में मिलते हुए आचार्य तुलसी ने आचार्यश्री से कहा कि आपने बहुत साहस दिखाया। इस पर आचार्यश्री ने फरमाया कि मैंने तो साहस दिखाया, किन्तु अब आपका भी नंबर है। आने वाले समय में फिर ऐसी स्थितियाँ आ रही हैं तब आपको भी एक बार पंचमी का मोह छोड़कर यदि कोई चौथ की भी बात करते हैं तो उनके साथ मिलकर उनको विश्वास दिलाने की आवश्यकता है। बहुत-सारी बातें हैं, किन्तु बन्धुओं ! जब तक हममें उदारता नहीं आएगी तब तक हम संवत्सरी को एक साथ नहीं मना पाएंगे। किन्तु तब तक हमें बड़ी सजगता से आगे बढने की आवश्यकता है और यदि ये सारे प्रयत्न सफल नहीं होते हैं और मान लीजिए कि संवत्सरी एकता की कोई बात नहीं बन पाती है तो भी हमें उसके लिए ज्यादा परेशान नहीं होना है। हमारी तैयारी रहनी चाहिए सैद्धान्तिक रूप से और यदि यह कार्य नहीं बनता है तो हमें अपने स्थान पर प्रत्येक प्राणी के साथ मैत्रीभाव को जोड़ने का प्रयत्न तो करते ही रहना चाहिए। राग, द्वेष, विकार के भावों को समाप्त करके जिस दिन भी

हम तटस्थ भाव से मैत्री का भाव जागृत कर पाएँगे, उसी दिन से आन्तरिक जगत् में हमारा जो प्रदूषण है वह समाप्त होगा और हमारा ऐसा निश्छल व्यवहार हमारे सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के चित्त को भी शान्ति प्रदान करने वाला बन जाएगा। प्रभु महावीर ने यह मनोवैज्ञानिक बात बहुत पहले ही कह रखी है कि हमारे मन का प्रभाव दूसरों के मन पर भी पड़ता है। हम इस बात को समझें और अपने मन को राग, द्वेष का अखाड़ा नहीं बनने दें। इसको मैत्री के रूप में ही प्रवाहित होने दें। यदि हम ऐसा कर सके तो निश्चित है कि पूरा विश्व समाज मान लेगा कि जैनियों की संवत्सरी केवल जैनियों की ही नहीं, बल्कि प्राणीमात्र के लिए आराधना का अवसर है।

बैर भाव का कैसे उपशम किया जाए ? इसे समझने के लिए उदायन महाराज और चण्ड प्रद्योतन से संबंधित कथा ही पर्याप्त है। चण्ड प्रद्योतन राजा को परास्त करके साथ में जिस दासी को वह चुरा कर ले गया उस दासी स्वर्णगुलिका को ला रहे हैं। जब उदायन महाराज कहते हैं कि मेरा पौषध है तब पराजित और बंदी बना चण्ड प्रद्योतन कहता है- मेरा भी उपवास है। वह भी उपवास करता है और संध्या के समय जब प्रतिक्रमण होता है और उदायन महाराज चण्ड प्रद्योतन से भी क्षमायाचना करते हैं, तब का वह दृश्य क्षमाशीलता का अनुपम उदाहरण है। चण्ड प्रद्योतन के सामने उदायन महाराज कहते हैं- राजन्, मैं आपसे क्षमायाचना करता हूँ। अब देखिए, जिससे युद्ध हुआ और जिसको पछाड़कर, परास्त कर लेकर आए, जिसे पिंजरे में बंद करके लेकर आए, जिसके माथे पर 'मम दासी-पति' पट्ट लगाकर लाए, उसी से वहाँ वे कहते हैं कि मैं आपसे क्षमायाचना करता हूँ। चण्ड प्रद्योतन कहता है कि राजन्, यह क्षमायाचना कैसी ? मेरे ललाट पर तो 'मम दासी-पति' लिखा हुआ है, तब आपके अंतर में क्षमा के विचार कैसे बन रहे हैं ? तब महाराज उदायन कहते हैं- राजन्, अभी तो मैं पौषध में हूँ। इसकी भी यथासमय विवेचना करूँगा। जब पौषध पूर्ण होता है तब उदायन महाराज चण्ड प्रद्योतन के माथे से वह पट्टी दूर करवाते हैं, उसे अपने राज्य में लाते हैं, राज्य में लाकर अपनी कन्या राजकुमारी, के साथ चण्ड प्रद्योतन

की शादी करते हैं और स्वर्णगुलिका दासी उसे दहेज में साथ दे देते हैं। यह है क्षमा का उदाहरण। पर हम तो केवल क्षमापना कर लेंगे, खमत-खामणा कर लेंगे, किन्तु नौकरों के साथ, मुनीम और गुमाश्तों के साथ हमारा क्या व्यवहार रहा है, अपने पड़ौसी और भाई-बहनों के साथ हमारा क्या व्यवहार रहा है, हमने किसकी संपत्ति को दबाया है, किसकी संपत्ति को हड़पा है, उस ओर यदि हमारा ध्यान नहीं जाता है तो केवल ऊपर की क्षमापना हमारी आत्मा को शांति प्रदान करने वाली नहीं बनेगी। अतः बन्धुओं ! हम अपने अन्तर से क्षमापना करने का प्रयत्न करें। गुणसेन और अग्निशर्मा के उदाहरण से भी आप परिचित हैं। अग्निशर्मा ने गुणसेन पर बहुत अत्याचार किए। एक जन्म में नहीं, आठ जन्मों तक अग्निशर्मा गुणसेन पर अत्याचार करता रहा, किन्तु उसके बाद भी उसका जहर शान्त नहीं हुआ। जहर को जहर से शान्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारे अन्दर यदि जहर है तो वह जहर का ही फैलाव करता है, परन्तु यदि हमारे अन्दर अमृत है तो वह जहर का निवारण करेगा। बन्धुओं ! हम भी अपने भीतर के जहर को समाप्त करें। यदि उसे समाप्त कर दिया तो ही जीवन में शान्ति, प्रशान्ति बन सकेगी और सही मायने में इस संवत्सरी पर्व की आराधना सार्थक होगी।

बन्धुओं ! सिद्ध भगवान हमारे बीच में नहीं हैं। यदि उनके प्रति कभी कोई शंका की भावना या संशय पैदा हो कि क्या जाने सिद्ध हो या नहीं हो या किसी भाई ने विनोद में ही कहा हो कि वहाँ जाकर क्या करना है, क्या निष्क्रिय बनना है ? निष्क्रिय थोड़े ही रहना है अथवा हमने विनोद में भी कभी सिद्ध भगवान के प्रति कोई अविनीत शब्दावली निकाली हो या वैसी भावना प्रकट की हो तो उन सिद्ध भगवंतों से भी क्षमापना प्रस्तुत करें। इसी प्रकार जो अरिहंत देव हैं, तीर्थंकर देव हैं, जिनकी वाणी के आधार पर यह सारा का सारा विवेचन चल रहा है, उनकी वाणी के विपरीत, भावना के विपरीत कभी कोई भी कथन हुआ हो तो अरिहंत भगवान के प्रति भी क्षमायाचना करने का प्रसंग उपस्थित होता है। समस्त आचार्यों और उपाध्यायों से भी आज के प्रसंग में हम क्षमायाचना करते हुए सरल हृदय से माफी माँगने को प्रस्तुत हों। जो मुनि

भगवंत और जो संत और साध्वियाँ विराजतीं हैं, वे तो प्रत्यक्ष हैं, उनके तो प्रत्यक्ष होने के नाते कई बार, कई बातें कहने में आ जाती हैं। शारणा, वारणा, धारणा, उस दृष्टि से भी कई बातें हो जाती हैं। जानकारी के अभाव में भी हमसे कुछ स्खलना हो जाए, ऐसे प्रसंग भी आ जाते हैं; यद्यपि ये संत-सतियांजी आज्ञा स्वीकार करने की स्थिति में तत्पर होती हैं, फिर भी कई बार अपनी वाणी से या अपने किसी निमित्त से मेरे कारण से इनका दिल दुखा हो तो क्षमायाचना करता हूँ।

बाहर भी साधु-साध्वियाँ अलग-अलग क्षेत्रों में चातुर्मास कर रहे हैं, उनकी अपेक्षाएँ रहती हैं, उनकी भी वहाँ कुछ तपस्याएँ हो सकती हैं, उनको भी सुख-साता के समाचार चले जाएं, उन्हें तबीयत के सुख-साता के समाचार चले जाएं, क्योंकि वहाँ पर विचार रहता है कि समय पर उन्हें भी समाचार मिलते रहें। किसी को चातुर्मास को स्वीकार करने में भी विलम्ब से स्वीकृति मिल पाती है। कभी चातुर्मास करने के लिए अनुकूल क्षेत्र नहीं मिल पाता है, हालांकि संत-साध्वी इस भावना को लेकर नहीं चलते हैं, किन्तु फिर भी मानव हैं, मानव-स्वभाव के कारण किसी के मन में ऐसे उतार-चढाव के भाव बन गए हों तो उन सबसे क्षमायाचना करते हुए अपने-आप में शुद्ध मन से, शुद्ध करने का भाव है। सभी संत-सतियांजी अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार शासन की प्रभावना में लगे हुए हैं। सभी अपनी क्षमता, अपनी शक्ति के अनुसार अपना कार्य करते हैं। इस संबंध में मैं आश्वस्त हूँ।

बन्धुओं ! मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि चाहे एक दिन का साधु हो, चाहे छोटा से छोटा साधु हो, सभी यही विचार रखते हैं कि भगवान महावीर के शासन की बढोतरी हो और सभी महावीर के शासन को चमकाने के प्रयासों में लगे रहते हैं। इन प्रयासों में, हो सकता है, सामर्थ्य के अभाव में, ज्ञान के अभाव में, कभी ऊँच-नीच की स्थिति बन जाती हो या बन गई हो तो भी मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मंशा या भावना की कमी कभी नहीं रही है और महत्त्व मंशा और भावना का ही होता है। फिर भी मैं अपने कर्त्तव्य के निर्वाह के रूप में सभी आचार्यों, संतों, महापुरुषों तथा भगवान महावीर की आज्ञा के अनुसार इस धरा पर

विचरण कर रहे विविध पदों पर आरूढ जितने भी पूज्य पुरुष हैं, उन सबके प्रति किसी भी प्रकार के अवज्ञा भाव के लिए सिद्ध भगवान की साक्षी से क्षमायाचना करके अपने-भाव को शुद्ध करने के लिए कृतसंकल्प हूँ।

जयपुर संघ में जहाँ हमारा चातुर्मास चल रहा है, श्रावक-श्राविका भक्तिभावना-पूर्वक श्रद्धा और शक्ति से साधु-साध्वियों को साता पहुँचाने के लिए हर प्रकार से प्रयत्नशील हैं। संत गोचरी को जाते हैं, साध्वियांजी भी गोचरी के लिए जाती हैं, उनके साथ घर बताने वाले भाईयों-बहनों की भी व्यवस्था है। हालांकि नगरों में ऐसी व्यवस्था हो पाना कठिन होता है, परन्तु जयपुर संघ पूरी तैयारी से, पूर्ण समर्पित भाव से इसमें जुटा हुआ है। फिर भी कुछ मर्यादाओं की स्थिति आने से किसी प्रकार की कोई बात हुई हो और उस बात के आधार पर किसी के दिल को ठेस पहुँची हो या साधु-साध्वियों एवं संत-सतियों की ओर से कोई ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ हो तो सबकी ओर से मैं क्षमायाचना करता हूँ। कहा भी गया है- क्षमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात - बड़ा व्यक्ति क्षमा करने वाला होता है और आप तो माता-पिता के विरुद को लेकर चलने वाले हैं, इसलिए मैं और मेरे जितने भी साधु-साध्वी, जो यहाँ विराज रहे हैं, उनके निमित्त से भी, आपके किसी के भी, स्थानीय जनता या बाहर से आए हुए दर्शनार्थियों के मन में भी यदि कोई अन्तर-पीड़ा बनी है तो आज के दिन वे सब यहाँ उस बात को समाप्त कर दें। मैं इस अवसर पर आप सबसे क्षमायाचना करता हूँ।

बन्धुओं ! पूर्व के आचार्यप्रवर, आचार्य भगवन् श्री हुक्मीचंदजी महाराज, जिनका एक आलौकिक स्वरूप रहा है और जिन्होंने भगवान महावीर की निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए जो ध्येय बनाया है और उसी के पीछे एक क्रम जुड़ता हुआ चला गया, आचार्य श्रीशिवलालजी महाराज, आचार्यश्री उदयसागरजी महाराज, पूज्यश्री चौथमलजी महाराज और पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज, पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज साहब, पूज्यश्री गणेशीलालजी महाराज, इन सारे आचार्यों एवं इनके प्रतिनिधि के रूप में आचार्य पूज्य नानालालजी महाराज, जिन्होंने पत्थर को मूरत का रूप देने का प्रयत्न किया, उस महापुरुष की उस उपकारिता को क्या कभी भुलाया जा सकता है और आज यह संवत्सरी का पर्व

पहली बार मनाने का प्रसंग बन रहा है, जब आचार्यदेव का वरदहस्त मेरे सिर के ऊपर से उठ चुका है। आज तक जितने भी संवत्सरी पर्व मनाए, आचार्यदेव का वरदहस्त सदैव मेरे पर रहता आया, चाहे मैंने उनके सान्निध्य में संवत्सरी पर्व मनाया, चाहे कहीं अन्यत्र मनाने का प्रसंग आया। निम्बाहेड़ा और रतलाम, केवल दो जगहों को छोड़कर आचार्य भगवन् के साथ ही संवत्सरी पर्व मनाने का प्रसंग आया। आज आप जो-कुछ रूप देख रहे हैं, उन्होंने इस रूप को प्रदान किया। उनके प्रति कुछ भी शब्द कहना मेरे वश की बात नहीं है और न मेरे सामर्थ्य की बात है, किन्तु फिर भी मैं उन महापुरुष को भी, चाहे उनकी आत्मा कहीं भी, किसी भी देवलोक में रहे, मैं उनसे भी चाहूँगा कि भगवन्, आपकी भावना के विपरीत मेरा यदि कोई भी कदम बढा हो, कोई भी भाव बना हो तो मैं उसके लिए कतई कामी नहीं हूँ। जिस भावना से उन्होंने मुझे जो उत्तरदायित्व सौंपा, उसके भी विपरीत कोई कदम बढा हो तो मैं उनसे भी अन्तःकरणपूर्वक क्षमा चाहता हूँ।

संवत्सरी आराधना का पर्व है। यह आस्था का पर्व भी है परन्तु आस्था हमारी प्रगाढ होनी चाहिए, श्रद्धा हमारी दृढ होनी चाहिए। आस्था दृढ होगी और मन सरल और शुद्ध होगा, तब आराधना करेंगे तो निश्चित रूप से हमारा लक्ष्य सधेगा। जिन्होंने संवत्सरी पर्व की आराधना शुद्ध भाव से कर ली है, तो मान लीजिए उनके लिए मुक्ति के द्वार खुल गए हैं, चाहे मुक्ति आज पहुँचे, चाहे कल पहुंचे, चाहे परसों पहुंचे, किन्तु एक-न-एक दिन मुक्ति निश्चित है, यह समझ लें।

बन्धुओं ! मुक्तिमार्ग का चिन्तन-मनन करते हुए हम अपने दायित्व का निर्वाहन करें। पूज्य गुरुदेव हमको शिक्षा देते हुए फरमाते थे कि प्रत्येक श्रावक को यह कह देना कि देखो, हम साधु हैं, यदि हमसे कभी भी किसी भी प्रकार की कोई स्खलना हो जाए तो आप हमारे माता-पिता के रूप में हैं, इसलिए आप हमको सावधान करना, हमारा ध्यान इस ओर दिलाना। आप यदि ध्यान नहीं दिलाओगे तो आप अपने कर्त्तव्य से गिरेंगे। आप यह नहीं समझना कि हम साधु और साध्वियों से कहेंगे तो वे बुरा मान लेंगे। बुरा यदि वे मान भी लें तो घबराने की आवश्यकता नहीं है। आपने अपने दायित्व का निर्वहन किया और करना

चाहिए साधु और साध्वियों को कहने के बाद भी यदि वे आपकी बात ध्यान में नहीं लाते हैं तो मेरा द्वार आपके लिए खुला है। मेरी स्वयं की बात भी देखें तो निःसंकोच भाव से एक भाई और पिता के नाते आप समझें, यदि आप ध्यान दिलाएंगे तो आपका उपकार माना जाएगा। यह नहीं कहा जाएगा कि आप कौन होते हैं, आप अधिक समझदार हैं क्या ? क्योंकि शास्त्रकार कहते हैं कि चक्रवर्ती सम्राट् भी यदि दीक्षा ले लेता है और उनके वहाँ जो चक्रवर्ती सम्राट् के सामने हाथ जोड़, सिर नवाए खड़ी रहती है वह दासी भी यदि मुनि बनने के बाद में उन सम्राट् चक्रवर्ती मुनि से किसी स्खलना के संदर्भ में कहे कि मुनिराज, अब आप साधु बन गए हैं, आपको ऐसा नहीं कल्पता है, तो मुनि को वहाँ कान पकड़ कर कहना चाहिए- आप जो कह रही हैं मैं उसमें संशोधन करने का भाव रखता हूँ। अतः आप तो श्रावक हैं, आपको ऐसा नहीं सोचना है कि हमको क्या करना है कहकर, जैसे पिता अपने पुत्र को शिक्षा देता है उसी प्रकार से साधु-साध्वी को उनके कर्त्तव्य के प्रति जागृत रखकर दायित्व का निर्वहन करने का अपना लक्ष्य रखेंगे तो वस्तुतः साधु और साध्वी अपने मार्ग से भटक नहीं पाएंगे। साधु-साध्वीवत् नियम में चुस्त रहेंगे तो श्रावक समाज में भी तज्जन्य अवसाद की स्थिति नहीं बन पाएगी। श्रावक-श्राविका अपने दायित्व के प्रति जागरूक हैं तो साधु का जीवन भी आत्मीयगुणों से अभिवृद्ध हो सकता है।

बन्धुओं ! संवत्सरी महापर्व के प्रसंग से अनेक बातें आपके बीच रख गया हूँ। यह उपदेश केवल आपके लिए ही नहीं है, मेरे लिए भी उतना ही महत्त्व रखता है जितना कि आपके लिए। उपदेश पहले स्वयं के लिए होता है, फिर दूसरे के लिए। यदि दूसरों को ही उपदेश का लक्ष्य हो जाता है तो 'पर उपदेशे पांडित्यम्' की कहावत चारितार्थ होगी। मैं भी अपने-आप में चिन्तन करूँ, आप भी चिन्तन करें और जहाँ वैर-विरोध की ग्रन्थि अटकी हुई हो, उसे आज के दिन समाप्त करने का लक्ष्य बना लें, तो निश्चित रूप से हम संवत्सरी की भव्य आराधना कर सकेंगे।

02.09.2000

❖ ❖ ❖

9. नमन से निर्वाण

साधना का प्रारम्भ नमस्कार से किया जाता है। नमन अथवा वंदन अथवा नमस्कार की क्रिया को सभी धर्मों ने स्वीकार किया है। विधि-विधान भिन्न हो सकते हैं, किन्तु नमस्कार को साधना के एक अंग के रूप में सभी धर्मों ने मान्यता दी है। प्रभु महावीर से पूछा गया- भगवन, वंदना करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? वन्दणएणं भन्ते! जीवे किं जणयई (उत्तराध्ययन- 29/11)। प्रभु महावीर ने उत्तर दिया कि वंदना से जीव नीच गौत्र कर्म का क्षय करता है और उच्च गौत्र का बंध करता है अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार पहला फल बताया कि व्यक्ति नीच गौत्र का क्षय करता है और उच्च गौत्र से सम्पन्न होता है, सौभाग्यशाली होता है और अप्रतिहत, आज्ञा फल, तीर्थंकर देवों की आज्ञा का जो फल है उस फल को अप्रतिहत अर्थात् जिसमें बीच में कोई व्यवधान नहीं पहुँचे, ऐसा अनुकूल फल प्राप्त करता है और अपने में दक्षता को प्राप्त कर लेता है।

एक नमस्कार से अलभ्य फलों की प्राप्ति होती है। हमारा आध्यात्मिक विकास चरम सीमा तक पहुँचता है। यह बात अलग है कि नमस्कार के स्वरूपों को और नमस्कार की विधा को जब तक हम सही नहीं जान लेते हैं, तब तक इस लाभ से सम्पन्न नहीं हो पाते हैं अर्थात् तब तक यह लाभ तो हमें प्राप्त नहीं हो पाता है। इसके विपरीत कभी-कभी कर्मबंध की अवस्थाएँ भी साथ में जुड़ जाती हैं।

साष्टांग प्रणाम की बात भी कही गई है अर्थात् आठों अंग नमाकर वंदना की जाए। कहीं नमस्कार केवल सिर नमा कर किया जाता है और कहीं आठों अंग नमाकर। जैन सिद्धान्त पंचांग वंदना की, पाँच अंग नमाकर वन्दना करने की बात कहता है। दो पैर, दो हाथ और मस्तक-इन पांचों को नमाया जाता है। ऊपर से दिखता भी है कि हम

पाँच अंगों को नमा रहे हैं। ऐलोपैथिक सिद्धान्त में लगभग 72 हजार संधियों को स्वीकार किया गया है। उन सारी संधियों को झुकाया जाना बड़े रूप में है, लेकिन मुख्य 14 संधियाँ होती हैं। उन 14 संधियों को नमाते हैं तो शरीर में लचक रहती है। शरीर नम हो जाता है, किन्तु इसके साथ अध्यात्म लाभ भी होता है। यदि हम चक्रों की बात करें, मूलाधार चक्र, मणिपूर चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धि चक्र, आज्ञा चक्र और सहस्रार चक्र, तो योगी यह मानते हैं कि हमारे भीतर इन चक्रों के स्वरूप हैं और इन चक्रों पर यदि ध्यान केन्द्रित किया जाता है तो उन चक्रों पर कुछ दबाव की स्थिति बनते ही चक्र सक्रिय हो जाते हैं और हमारी शक्ति जागृत हो जाती है। योगियों ने उस शक्ति को जिस रूप में स्वीकार किया है वह इन सातों चक्रों को पार करती है, उसे कुण्डलिनी शक्ति जागृत करने का नाम देते हैं। नाम चाहे कुछ भी दिया जाए, मूल में वह क्रिया शक्ति-जागरण की ही है। सुषुम्ना के माध्यम से ये चक्र उसी सुषुम्ना के साथ संयुक्ति की अवस्था में हैं और उनके आधार पर ही इनकी परिकल्पना की गई है।

यदि हम चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि एक नमस्कार से ही हमारे कितने चक्रों की अवस्थाएँ सध जाती हैं और मूलाधार चक्र पर भी दबाव पड़ता है। जैसे ही पाँच अंग नवाने के लिए मस्तक झुकाया जाता है और पूरे पाँच अंग झुका दिए जाते हैं, मूलाधार चक्र, स्वादिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र - इन सभी चक्रों पर दबाव पड़ता है और जिस समय गर्दन झुकाई जाती है उस समय विशुद्धि चक्र पर भी प्रभाव दिखाता है। इसके बाद जब सिर से चरण-स्पर्श किया जाता है, उस स्थान से जहाँ तिलक लगाया जाता है, उस स्थान से जव सिर का स्पर्श करवाया जाता है तो वह अपने-आप में आज्ञा चक्र को प्रभावित करने वाला बन जाता है। जिस समय वंदना करके साधक खड़ा होता है और जिनकी वंदना की जा रही है उनका हस्तकमल उठी हुई अवस्था में उपस्थित होता है या हाथ खड़ा होता है तो वह हाथ आशीर्वाद का सूचक वन जाता है। वैज्ञानिकों ने माना है कि उससे जो किरणें प्रस्फुटित होती हैं वे साधक के सहस्रार को स्पर्श करती हैं। सहस्रार का भाग सिर के मध्य में है और

उस भाग से एक प्रकार से शक्ति को ऊपर की तरफ खींचा जाता है। जो शक्ति हमारे लिए अधोगामिनी बनी है, उस शक्ति को यदि ऊपर की ओर खींचा जाए और वह शक्ति ऊर्ध्वगामिनी बनती है और वह सहज ऊर्ध्वगामिता स्वीकार कर लेता है या ऊर्ध्वगामी बनता है तो अध्यात्म-स्वरूप निखरता है। इसीलिए कभी-कभी यहाँ तक कह दिया जाता है कि ऋषभदेव भगवान से लेकर प्रभु महावीर तक 24 तीर्थंकर भगवानों को एक बार किया गया वंदन भी हमारे समस्त पापों को नाश करने वाला हो सकता है। बात सरल है और सुनते हैं तो विश्वास भी होता है, परन्तु कभी विचार भी आ सकता है कि ऐसे नमस्कार करने से सारे कर्म नष्ट कैसे हो जाएंगे ? इसे समझने के लिए पहले आप विचार कीजिए कि आप नमस्कार किन्हें करते हैं ? णमो अरिहंताणं बोलते हैं तो नमस्कार किसको करते हैं ? अरिहंत भगवान को। णमो सिद्धाणं अर्थात् सिद्ध भगवान को नमस्कार।

दूसरा प्रश्न मेरा है। आप जो अरिहंत भगवान को नमस्कार करते हैं या अरिहंत भगवान को जो नमस्कार किया जाता है तो उस नमस्कार से अरिहंत भगवान को किस लाभ की प्राप्ति होती है, उनको क्या लाभ प्राप्त होता है ? आप यदि किसी को कुछ दे रहे हैं और वह ले ही नहीं रहा है या आपके वंदन से उनको कोई लाभ नहीं हो रहा है तो ऐसे वंदन का क्या लाभ ? जैसे आपने पानी खूब बहाया लेकिन वह वहाँ की भूमि का सिंचन करे ही नहीं, तो वह किस काम का ? तो फिर अरिहन्त भगवान को किए गए नमस्कार का अर्थ क्या ? इस पर हमें गम्भीरता से चिन्तन करना पड़ेगा। हम यह जरूर कहते हैं कि अरिहंत भगवान को नमस्कार, सिद्ध भगवान को नमस्कार, किन्तु उनके लिए किया गया नमस्कार उन्हें कोई फायदा पहुँचाने वाला नहीं है। आप उन्हें नमस्कार करेंगे तो उन्हें कोई लाभ प्राप्त हो जाएगा या उन्हें कोई नमस्कार नहीं करेगा तो उन्हें कोई क्षति हो जाएगी, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता अर्थात् हमारे आधार पर ही उनका जीवन टिका होता, हमारे नमस्कार पर ही उनका कल्याण होता, उनका अरिहंतत्व और सिद्धत्व टिका होता, तब तो उनकी अर्हता ही समाप्त हो सकती थी। पर ऐसा नहीं है और यदि हम

ऐसा चिन्तन करेंगे तो वह हमारी सबसे बड़ी भूल होगी। तब यह बात भली प्रकार समझ लीजिए कि आपके और हमारे वंदन से न तो वे अरिहंत बने हैं और न ही आपके और हमारे वंदन से सिद्ध बने हैं। वे तो सिद्ध बन चुके हैं। उन्हें हमारे नमस्कार से कोई प्रयोजन नहीं है और यदि प्रयोजन नहीं है तो हम उन्हें नमस्कार करते चले जाएं तो उन्हें क्या लाभ ? इसलिए यदि आप कभी बारीकी से चिन्तन करेंगे तो उस चिन्तन में यह बात उभरेगी कि नमस्कार अरिहंतों के लिए नहीं है। नमस्कार सिद्धों के लिए नहीं है, नमस्कार हमारे स्वयं के लिए है। पर अरिहंतों, सिद्धों की तरफ नमस्कार किया जाता है। अरिहंतों की तरफ जो नमस्कार हो रहा है, सिद्ध भगवान की तरफ जो नमस्कार हो रहा है, उसका तात्पर्य यह है कि उनके भीतर जो अर्हता के गुण हैं, उनके भीतर सिद्धत्व का जो स्वरूप विद्यमान है, उस सिद्धत्व को हम प्राप्त करना चाहते हैं। इसे एक उदाहरण से समझिये।

तालाब में पानी भरने के लिए एक व्यक्ति पहुँचता है। हाथ में घड़ा है और वह आदमी घड़ा तालाब में पानी पर रख दे तो बताइये कि घड़ा कितने समय में भरेगा ? घड़ा भरेगा ही नहीं। छेद हो तो बात अलग है। घड़ा यदि पानी से भरना हो तो तालाब की तरफ उसको नवाना होगा, तभी तालाब का पानी घड़े में आएगा। वैसे ही जब अरिहंत भगवान या सिद्ध भगवान की तरफ हम अपने-आप को नवाते हैं तो हमारे भीतर यह भाव होना चाहिए कि अरिहंत भगवान या सिद्ध भगवान के भीतर विद्यमान अरिहंतत्व या सिद्धत्व के गुणों को मैं अपने भीतर प्रविष्ट करवाकर अपने आध्यात्मिक जीवन का संवर्द्धन करना चाहता हूँ। यदि इस भावना से वंदन किया जाता है तो उससे हमारे भीतर नया जागरण होगा और हमारे भीतर एक क्रान्ति पैदा होगी। ऊपर से उसकी अनुभूति हो या न हो, किन्तु अंतर में हमें बहुत-कुछ परिवर्तित लगेगा, बहुत कुछ बदला हुआ लगेगा।

मगध सम्राट् श्रेणिक ने नमस्कार किया। ऊपर से शरीर क्लांत हो गया, पसीना-पसीना हो गया। यदि उनसे पूछा जाता कि अंतर में क्या अनुभूति हुई तो वे कहते- आनन्द की अनुभूति हुई। ऐसी अनुभूति का

श्रावक अवस्था में, साधु अवस्था में यह नीच गौत्र की अवस्था अपने-आप में समाप्त होते हुए चलती जाती है। चाण्डाल कुल में जन्म लेने वाले हरिकेशी मुनि साधु बनने के बाद चाण्डाल रहे क्या ? चाहे उनका चाण्डाल गौत्र वगैरह कुछ भी रहा हो, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वह सब बदल गया और उच्च गौत्र हो गया, उन्हें उच्च गौत्र का कहा जाने लगा। यथार्थ में वे उच्च गौत्री बने भी, क्योंकि वे तीर्थंकर देवों की वाणी की रक्षा करने वाले बने थे। इसलिए कहा जाता है नीच गौत्र समाप्त हो सकता है और उच्च गौत्र की प्राप्ति का प्रसंग बन सकता है।

नमस्कार से दूसरा लाभ सौभाग्य की प्राप्ति होता है। सौभाग्य क्या होता है ? किसको मानते हैं हम सौभाग्य ? एक प्रार्थना पद है -

श्री श्रेयांश जिन अन्तरयामी आत्मरामी, नामीरे
अध्यात्म मत पूर्ण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे
श्री श्रेयांश जिन अन्तरयामी, आत्मनामी
आध्यात्म मत पूर्ण पामी।

जहाँ श्रेयांश के अंश को प्राप्त करके अध्यात्म मत की पूर्णता को प्राप्त करने वाला अंश प्राप्त होता है वहाँ सौभाग्य है। पहले हमारी यात्रा सूक्ष्मता से चलती है, किन्तु वही यात्रा जब आगे बढती है तो उसका इतना विशाल रूप बन जाता है कि उसकी विशालता की सहसा हम कोई कल्पना ही नहीं कर सकते।

कभी-कभी व्यापारिक क्षेत्र में व्यक्ति को अचिंत्य लाभ-प्राप्ति की स्थिति बन जाती है। तब वह विचार करता है कि इतना लाभ मुझे कैसे प्राप्त हो गया ? पर वह लाभ सहसा प्राप्त नहीं हुआ है। उस लाभ की प्राप्ति के पीछे भी एक लम्बी श्रृंखला रही है। उस श्रृंखला को वह जब तक नहीं जान पाता है तब तक वह भले ही आश्चर्य करे, किन्तु जब उस श्रृंखला को जान लेता है तो फिर आश्चर्य की स्थिति नहीं रह पाती है। संपत्ति होना, यह अपने आप में सौभाग्य नहीं है। परिवार में वृद्धि होना, यह भी कोई सौभाग्य की बात नहीं है। अनेक मकानों का स्वामी बन जाना, यह स्थिति भी एकांत रूप से सौभाग्य की सूचक नहीं है। ये सारी अवस्थाएँ प्राप्त हो जाएं, किन्तु उसके बावजूद भी रोज परेशानियाँ

आ रही हों, रोज अगर तनाव रहे तो क्या यह सौभाग्य है ? ऐसी अवस्था को सौभाग्य नहीं कह सकते। वे सारी चीजें प्राप्त होने के बाद भी उनके उपभोग में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ना, किसी प्रकार की रुकावट नहीं आना, उस वैभव के सतत् उपभोग की स्थिति बनी रहना, यह होता है सौभाग्य। शालिभद्र को वैभव मिला, वैभव का उसने भाग भी किया। सौभाग्य से प्राप्त वैभव का एक व्यक्ति भोग करता भी है और नहीं भी करता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने भी वैभव का भोग किया। वह सौभाग्यशाली था। वैभव के भोग के पीछे भी यदि अनासक्त भाव है तो वह सौभाग्य का सूचक है और वैभव के प्रति यदि आसक्ति का भाव है और आसक्ति से उसका उपभोग किया जा रहा है तो वह उसका सौभाग्य नहीं है, बल्कि यों कहा जा सकता है कि भाग्य से प्राप्त पुण्यों से प्राप्त जो संपत्ति, जो सुख, जो वैभव हैं, उस वैभव का यदि आसक्ति के भाव से वह सेवन कर रहा है, तो वह उस वैभव का दुरुपयोग है और इस प्रकार वह अपने दुर्भाग्य को न्यौता दे रहा है। उसका दुर्भाग्य एक प्रकार से वहाँ प्रकट हो रहा है, किन्तु प्राप्त वैभव या पुण्य के प्रभाव से जो संपत्ति मिल गई, जो कुल-परिवार मिल गया, उस कुल-परिवार और उस सारी संपत्ति का, एश्वर्य का भोग करते हुए भी व्यक्ति अपने-आप में अनासक्त रहे। उस भोग से वह अपने-आप को जोड़े नहीं तो वह सौभाग्य है और ऐसा सौभाग्य वंदन करने वाले को प्राप्त होता है। नहीं तो कभी-कभी साधना-वंदना करने वाला वैभव के सौभाग्य को, प्राप्त कर ले, पर यदि वह उसमें आसक्त हो जाए तो क्या यही वंदना का फल है ? वंदना करने के पश्चात् उस वैभव के प्रति कोई लगाव नहीं रहे तो यह सौभाग्य है।

ऐसा सौभाग्य वंदन करने से प्राप्त होता है। इस स्थिति में परमात्मा के वे चरण कारणभूत होते हैं, जिन चरण-कमलों में भक्त नमन करता है। जब परमात्मा के चरणों में वह नमता है और वहाँ का जो दृश्य देखता है-

चरण कमल कमला बसे रे निर्मल स्थिर पद देख

परमात्मा के चरणों में श्री-लक्ष्मी का अखूट खजाना देखकर वह विचार करता है कि जिस पैसे के पीछे व्यक्ति पागल हो जाता है, जिस संपत्ति के पीछे वह न परिवार को देखता है, न कुल को देखता है, न

"आम झुके इमली झुके और झुके तो दाड़म दाख,
अरंड बेचारा क्या झुके जिसकी ओछी साख"।

आम में फल आता है तो उसकी टहनियाँ झुक जाती हैं और हमारे भीतर गुण आने पर हम क्या करते हैं ? आज के व्यक्तियों को यदि सम्पत्ति मिल जाती है तो फिर वह क्या अपने भाई को भी भाई समझ पाता है ? पड़ौसी को पड़ौसी मानता है क्या ? तो क्या आम के बराबर भी हमारी स्थिति नहीं ? आम झुक सकता है किन्तु अरंड नहीं झुक पाता क्योंकि उसका सौभाग्य नहीं है। जिसका सौभाग्य है वही नमन की प्रक्रिया से जुड़ सकता है। ऐसे अरंड को फलों का राजा नहीं कहा गया है। फलों का राजा कौन है ? आम है, जो झुकने वाला है। झुकने वाला राजा बना है और यदि यह कह दें कि जो झुकेगा उसको राजा बनाएंगे तो कितने व्यक्ति झुकने लग जाएंगे?

कहते हैं कि एक बार कृष्ण वासुदेव ने अपने पुत्रों से कहा– "जो अरिष्टनेमि भगवान का वंदन करेगा, उनको वंदन–नमस्कार करेगा, उसको राज्य का अमुक भाग पुरस्कार में दूँगा। भाईयों में होड़ लग गई। एक भाई ने विचार किया कि मैं जल्दी जाऊं, कहीं ऐसा न हो कि दूसरा भाई पहले पहुँच जाए और मैं वंचित रह जाऊं। वह अरिष्टनेमि भगवान के पास पहुँच गया। उसने तीन बार वंदना कर ली और वंदना करने के पश्चात् कहा– "भगवान, मैंने आपकी वंदना की है, ध्यान रखना, कहीं ऐसा न हो कि आप भूल जाएं। अब सारा खेल आपके ऊपर आधारित है। आप यदि भूल गए और मेरी वंदना यदि स्मरण में नहीं रही, तो मैं राज्य से वंचित रह जाऊंगा। कृष्ण वासुदेव ने यह कहा है कि जो पहले वंदन करेगा उसको वह राज्य मिलेगा, इसलिए आप ध्यान रखना। ''अरिष्टनेमि भगवान कुछ बोल ही नहीं रहे थे। "न अत्थिवा न नत्थिवा" – न हाँ कह रहे थे और न ना कह रहे थे। तब उसने सोचा कि शायद सुना नहीं होगा या काम में व्यस्त होंगे। उसने पैरों पर, घुटनों पर हाथ लगाया और उन्हें हिलाते हुए कहा कि ध्यान में आया या नहीं आया कि मैं वंदना कर रहा हूँ, मैने वंदना की है। ध्यान दिलाए नहीं तो मालूम कैसे पड़े ? वंदना भी की और भगवान को मालूम न पड़े तो फिर वंदना का

क्या मतलब ? कभी-कभी हम सोच लेते हैं और कई बार यह भी विचार आ सकता है कि हम तो वंदना करते हैं और महाराज झेलते ही नहीं हैं। पूर्व में मैंने बताया था कि आपकी वंदना की सिद्ध भगवान, अरिहंत भगवान को कोई जरूरत नहीं है। वैसे ही आचार्य भगवन् हाथ ऊपर कर देते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि वे ले रहे हैं, उनको आपकी वंदना से कोई लाभ हो रहा है। आप यदि वंदना कर रहे हैं तो उस वंदना का लाभ किसको होगा ? आप ही वंदना करने वाले और आप ही उसका लाभ लेने वाले हैं। एकदम जैसे सेल्फ-ड्राफ्ट। जो सेल्फ-ड्राफ्ट होता है वह किसको प्राप्त होता है ? स्वयं को ही प्राप्त होता है, यह बात आप जानते हैं। जैसे सेल्फ-ड्राफ्ट स्वयं को ही प्राप्त होता है, वैसे ही यह ऐसा ड्राफ्ट है जो कहीं पर भी इधर-उधर जाने वाला नहीं, इसका लाभ आपको ही जाने वाला है। इसलिए वंदना करते हुए मन में ऐसे कोई विचार नहीं होने चाहिए। हालांकि वंदना का स्वरूप आज बहुत-कुछ विकृत हो चुका है। पूज्य गुरुदेव कई बार फरमाया करते थे कि कई भाई तो केवल इस प्रकार की वंदना करते है कि थोड़ा-सा झुके और हो गई वंदना। कई भाई थोड़े और झुकेंगे, कमर लचकेगी, लेकिन घुटने नहीं नमेंगे। जाने कोई करंट लग रहा है, ऐसे हाथ लगाकर जैसे झटका लगेगा और कई भाई और झुकते तो हैं, परन्तु जमीन पर घुटने नहीं जाते हैं और वे जमीन का स्पर्श पाने की बजाय ऊपर के ऊपर ही रह जाते हैं। जब घुटने ही नीचे जमीन तक नहीं गए, हाथ भी नीचे नहीं गए तो माथा नीचे कैसे झुकेगा ? पाँचों अंग नहीं नवेंगे तो कैसे विशुद्धि चक्र क्रियान्विति में आएगा ? वह कार्य कैसे संपादित होगा और कैसे सहस्रार जगेगा, क्योंकि शक्ति तो वहाँ से आ रही है और यदि हमारी शक्ति उसमें उलझ कर रह गई, आगे नहीं बढी तो कैसे सहस्रार जागृत हो पाएगा ? उसके आगे कबीरजी आठवें चक्र की भी बात करते हैं कि सहस्रार से तो व्यक्ति पुन: लौट सकता है और जैन सिद्धान्त भी यह मानता है कि उसे वीतरागता प्राप्त होती है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से गाड़ी को रिटर्न होना होता है, क्योंकि गाड़ी आगे नहीं जा सकती है। गाड़ी का मतलव हमारी चेतना की यात्रा है। हमारी चेतना ग्यारहवें गुणस्थान से आगे नहीं जा सकती। ग्यारहवें गुणस्थान से वह चेतना, वह वीतरागता रिटर्न हो

है। वह पुनः सरागी अवस्था में आती है। इसलिए कबीरजी कहते हैं कि सहस्रार तक पहुँचा हुआ परिस्थितियों के आधार पर रिटर्न भी होता है, उसकी शक्ति संसार में उलझ सकती है, किन्तु जो श्रुतिकमल में चला गया, जो अपने-आप में व्याप्त हो गया, वह व्यक्ति कभी रिटर्न नहीं हो सकता, उसकी चेतना कभी-भी विषय और वासना में उलझ नहीं सकती, उसके जीवन में कभी राग, द्वेष व्याप्त नहीं हो सकता। जिसे जीवन में सर्वज्ञता प्राप्त हो गई, उसे विषय-वासना का विकार प्रभावित नहीं कर सकता। राग-द्वेष उस आत्मा को कभी छू नहीं सकता। ग्यारहवें गुणस्थान से जो आत्मा नीचे की ओर पतित होती है, वह पुनः सरागी बन जाती है। वह राग-द्वेष के कीचड़ में फंस सकती है तथा विषय और वासना में उलझ सकती है। वह आत्मा अनेक भव इस संसार में कर सकती है और कई भवों के बाद जाकर उसको मुक्ति का द्वार प्राप्त हो सकता है। ग्याहरवें गुणस्थान से लौटा जा सकता है। हम श्रुतिकमल को विकसित करना तो चाहते हैं, खिलाना तो चाहते हैं, साधना के चरम क्षेत्र तक पहुँचाना तो चाहते हैं, किन्तु वह निष्पत्ति, वह स्पर्श-नमन तो हो ही नहीं रहा है, फिर ऐसा कैसे हो पाएगा ?

कृष्ण वासुदेव के एक पुत्र ने तो अरिष्टनेमि भगवान को बार-बार हिला-हिलाकर कहा कि ध्यान रखना, मैं वंदना कर रहा हूँ, जबकि दूसरे पुत्र ने सोचा कि ये तो सर्वज्ञ हैं और उसके अंतर में उनके प्रति ऐसा अनुराग पैदा हुआ कि उसने वहीं रहते हुए नमस्कार कर लिया। भावपूर्वक नमस्कार कर लिया। कृष्ण वासुदेव ने पूछा कि किसने पहले नमस्कार किया ? पहले राजकुमार ने कहा कि मैंने किया। मैं ही गया वहाँ अरिष्टनेमि भगवान के पास और कोई वहाँ नहीं पहुँचा था। मैं वहाँ रहा। मेरे प्रतिद्वंद्वी दूसरे राजकुमार वहाँ तक फटक ही नहीं पाए। राजनीति भी ऐसी ही होती है। उसने वहाँ अरिष्टनेमि भगवान के पास चौकीदारी लगा दी कि दूसरे राजकुमार वंदना करने आएं तो आने ही नहीं देना है उनको। देखें, कैसे करेंगे वंदना ? कृष्ण वासुदेव कहने लगे- भाई, अरिष्टनेमि भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं। उन्हीं से निर्णय करवाया जाएगा कि किसने पहले नमस्कार किया। अरिष्टनेमि भगवान के पास वे पहुँचे

और पूछा तो अरिष्टनेमि भगवान ने कहा कि इसने यहाँ तक आकर कसरत तो की है, काया-क्लेश तो किया है, किन्तु वंदना नहीं की है। काया-क्लेश क्या होता है ? काया-क्लेश किसको कहते हैं ? उठ-बैठ कर ली, पाठ भी बोल लिया, किन्तु अंतर में यदि भाव नहीं बने, अंतर में यदि उस प्रकार का भाव जागृत नहीं हुआ कि मेरे भीतर अर्हता प्रवेश करे। एक बाल्टी और घड़ा तो पानी में नमाया, किन्तु पानी नहीं ले पाए या जितना पानी लेना था उतना नहीं ले पाए और जितना पानी की तरफ नवाया जाना चाहिए था, उतना नहीं नवाया तो फिर पानी भरेगा नहीं। थोड़ा टेढा कर दिया, पूरा टेढा नहीं किया और पानी की सतह को छू नहीं पाया तो क्या बाल्टी या घड़े में पानी भर जाएगा ? नहीं। उस पानी की सतह को बाल्टी के किनारे से छुएंगे और डुबोएंगे तब ही कहीं जाकर बाल्टी या घड़ा पानी से भर पाएगा। वैसे ही अरिष्टनेमि की अर्हता, उनके ज्ञान, दर्शन और चारित्र से हम अपनी आत्मा को स्पर्शित करवाएंगे तब उनकी अर्हता हमारे भीतर प्रवेश कर पाएगी। तब उनकी आराधना हमारे भीतर प्रवेश कर पाएगी और यदि हमने उसे दूर का दूर ही रखा तो वैसी अवस्था में वह नमन सही नहीं बन पाएगा। ऐसा श्रद्धा-भावनाहीन नमन तो व्यावहारिक अवस्था में हम बहुतों को करते हैं, परन्तु जैसे उसका लाभ प्राप्त नहीं कर पाते हैं वैसे ही इस प्रकार के नमन का भी कोई लाभ प्राप्त नहीं कर पाएंगे। हम कुछ द्रव्य लाभ भले ही प्राप्त कर लें, किन्तु आन्तरिक लाभ हम प्राप्त नहीं कर पाएंगे। भगवान महावीर की आत्मा ने नंदनमुनि के भव में अपने को इतना नवा दिया था कि अरिहंत की आराधना से वह आत्मा लग सकी। उन्होंने उस सतह तक उसे पहुँचाया कि उनकी आत्मा ने तीर्थंकर गौत्र नाम का बंध कर लिया।

यह उस नमस्कार का ही चमत्कार था कि भगवान महावीर की आत्मा देवानंदा की कुक्षि में आई। वह देवानंदा अपने गर्भ का पूर्णतः ध्यान रखते हुए अपने जीवन को यापित कर रही थी। इस प्रकार 82 दिन व्यतीत हो गए। अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग प्रकार की वातें आती हैं, किन्तु मान्यता ऐसी है कि इन्द्र का आसन कम्पायमान हो उठा। कई जगहों पर ऐसा भी बतलाया गया है कि इन्द्राणी इन्द्र के पास वैठी

हुई थी कि इतने में जो सुधर्मा सभा है उसका घंटा घनघनाने लगा और इन्द्राणी एकदम कम्पायमान होने लगी। उसने इन्द्र से प्रश्न किया कि देव ! अकस्मात् यह घंटा क्यों घनघनाने लग गया ? जैसे आज यदि कोई अचानक सूचना होती है या कोई खतरा होता है तो खतरे की घण्टी बजने लगती है या सरकार की ओर से रेड अलर्ट घोषित कर दिया जाता है। इस प्रकार हर एक व्यक्ति को सावधान कर दिया जाता है। वहाँ पर भी एक प्रकार से रेड अलर्ट की घोषणा हो गई थी। अतः इन्द्राणी ने पूछा- देव । यह क्या बात है ? इन्द्र भी समझ नहीं पाए कि मैंने तो कोई आदेश नहीं दिया, फिर सुधर्मा सभा का घण्टा क्यों घनघनाने लगा ? बताया जाता है कि उनका देव विमान प्रकंपित हो उठा, तो वहाँ घण्टे अपने-आप बजने लग गए। किन्तु स्थानकवासी मान्यता के अनुसार यह माना जाता है कि शकेन्द्र का आसन विचलित होता है, वह अपने-आप प्रकम्पित होता है। वह सोचते हैं कि क्या कारण है कि मेरा आसन प्रकम्पित हो रहा है ? इतना दान देने वाला, पुण्य करने वाला, कौन चमत्कारी है, कौन अणगार है, जिसके कारण मेरा आसन प्रकम्पित हुआ ? वे अपने अवधिज्ञान का प्रयोग करते हैं तो उन्हें ज्ञात होता है कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में चौबीसवें तीर्थंकर का अवतरण हो चुका है और उन्होंने देवानंदा की कुक्षि में प्रवेश पाया है। उन्होंने सोचा- अभी समय है, इस समय गर्भ को ट्रान्सफर किया जा सकता है। अधिक समय निकल जाए तो उसके बाद यह क्रिया संभव हो या न हो, अतः अभी ही इस प्रक्रिया को संपन्न करना आवश्यक हो गया है। उन्होंने इस प्रकार का चिन्तन किया। सारी अवस्था वे समझ गए थे। अतः वे अपने सिंहासन से नीचे उतरे और नीचे उतरकर उन्होंने वंदना-नमस्कार किया। आप देखिए कि प्रभु महावीर की आत्मा ने अपने-आप को नमन से जो जोड़ा था, तो उसका ऐसा परिणाम हुआ कि देवलोक के इन्द्र का आसन अपने-आप प्रकम्पित हो उठा और इन्द्र को सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा। वे सिंहासन से नीचे उतरे। उन्होंने नमस्कार किया और कर्त्तव्य-भाव से विचार करने लगे कि मुझे क्या करना चाहिए ? वे जानते थे कि असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल व्यतीत हो जाते हैं, तब कोई ऐसी घटना घटित होती है कि कोई तीर्थंकर आत्मा भिक्षुक कुल में जन्म लेती है अन्यथा कोई भी तीर्थंकर

की आत्मा भिक्षुक कुल में जन्म नहीं लेती है। उसके लिए एकमात्र क्षात्र कुल होता है। वह क्षात्र कुल में ही जन्म लेती है। आप सोचेंगे कि ऐसा क्यों होता है ? प्रभु महावीर ने तो कहा है- कर्म से ही कोई क्षत्रिय होता, कर्म से ही ब्राह्मण होता, कर्म से ही शुद्र और कर्म से ही वैश्य होता है। किन्तु स्वयं तीर्थंकर के लिए यह कैसी मान्यता है कि उनका जन्म मात्र क्षात्र कुल में ही हो सकता है ? बन्धुओं ! चिन्तन करने की आवश्यकता है कि वहाँ भी भिक्षुक कुल में जन्म लिया जा सकता है, किन्तु उनकी पुनवानी और उनके नमन के ऐसे प्रभाव होते हैं कि एकाएक भिक्षुक कुल में जन्म नहीं लेते। उनकी पात्रता तो उच्च कुल, क्षात्र कुल में जन्म लेने की ही होती है। किन्तु कभी-कभी किसी-किसी की आत्मा के ऐसे कर्मबंध होते हैं। माना यह जाता है कि भगवान महावीर की आत्मा, जिसने त्रिदण्डी के भव में, मरीचि के भव में जो अहंकार किया, जो गर्व किया, खानदान के गौरव की स्थिति के कारण जो गर्वोक्ति की, उसी गर्वोक्ति के कारण उनको कहाँ जन्म लेना पड़ा ? भिक्षुक कुल में।

कर्मों की गति को देखिए। कबीर ने भी कहा है- "करम गति टारे नाहिं टरै।" ज्ञानीजन कहते हैं कि कर्म करते हुए पहले हँसते-हँसते कर्मों का उपार्जन करते हैं, तब यह नहीं सोचते कि किए हुए कर्म जब उदय में आएंगे तब कितना रोना पड़ेगा, कितना हाहाकार करना पड़ेगा। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं है। जो कर्म उपार्जित किए हैं उनके फल भोगने ही पड़ेंगे। कर्मों को भोगते हुए व्यक्ति रोने लगता हैं, हाहाकार करने लगता है और जब ऐसे कर्म उदय में आते हैं, तब धर्म याद आता है। जरूरी नहीं है कि सभी को आता हों, किन्तु 'दुख में सुमिरन सब करें सुख में करे न कोय। जो सुख में सुमिरन करे तो दुख काहे को होय।।' व्यक्ति पर जब दुख आता है तब धर्म-कर्म सब याद आ जाते हैं और जब सुख आ जाता है तो जमीन पर पैर ही नहीं पड़ता, तव व्यक्ति आकाश में उड़ने लगता है। भाई को भाई नहीं समझता, लेकिन यह आकाश में उड़ना वहुत अधिक समय तक नहीं रहता। जैसे कोई प्लेन उड़ता है और यदि पैट्रोल खत्म हो जाए तो वह प्लेन नीचे आ जाता है या तव जिस वाहन में वैठे हों, वह जमीन पर आ जाता है। अतः समझ

लीजिए कि जब हमारी पुनवानी का पैट्रोल समाप्त हो जाएगा तो ऐसे औंधे मुँह गिरेंगे कि सहसा संभल पाना भी कठिन हो जाएगा। इसलिए आकाश में उड़ने का प्रयास मत करो, अपने पैर जमीन पर टिकाए रखो, ताकि यदि कोई भन्नलिया आ जाए तो वह उड़ाकर नहीं ले जा सके। यदि उस भूमिका को मजबूत रखेंगे तो पैर जमीन पर टिके रहेंगे और कोई अहंकार आकाश में उड़ाने में समर्थ नहीं हो पाएगा।

बन्धुओं ! हमें चिन्तन जरूर करना चाहिए कि हम जो इतनी बार नमस्कार करते हैं, वह नमस्कार कहीं काया-क्लेश में तो परिवर्तित नहीं हो रहा है ? जैसे अरिष्टनेमि भगवान ने एक राजकुमार के लिए कहा था कि इन्होंने काया-क्लेश तो किया है, किन्तु नमस्कार नहीं हो पाया है। उसने नमस्कार इसलिए किया कि उसे राज्य की प्राप्ति हो जाए। वहाँ नमस्कार की भावना नहीं थी, राज्य प्राप्ति की भावना से वह चलकर आया था और उसके दिमाग में राज्य घुसा हुआ था और जहाँ दिमाग में राज्य घुसा हुआ हो क्या वहाँ अर्हता के गुण घुस पाएँगे ? पहले से जहाँ दिमाग भरा हुआ हो तो उसमें क्या ऊपर से कुछ और डाल पाएँगे ? आज हम इतने ताने-बाने बुनते रहते हैं अपने मस्तिष्क में और इस प्रकार जब वह भरा रहता है तो फिर और कुछ भर पाने में समर्थ कैसे हो सकते है ? इसलिए कहा गया है कि अपने मस्तिष्क को फ्रेश या स्वच्छ करके गुरुचरणों में पहुँचना चाहिए। यदि मस्तिष्क स्वच्छ होता है तो वहाँ पर प्राप्त होने वाली सामग्री, आत्मा और परमात्मा की बातें हमारे भीतर प्रवेश कर पाती हैं, परन्तु यदि मस्तिष्क फ्रेश नहीं है और साफ नहीं किया गया है, तो फिर वहाँ की ज्ञान की बातें हमारे मस्तिष्क में कैसे समा पाएंगी ?

कुल मिलाकर भाव यह है कि हमारा नमस्कार किसी धन, संपदा, वैभव-प्राप्ति की भावना से प्रेरित न हो, किसी के दबाव आदि के कारण से न हो, प्रत्युत गुणीजनों के गुणों से हृदय प्रमुदित हो और उसी का प्रतिफलन नमन के रूप में हो, जो सहज ही हमारे अन्तर की अर्हता को जागृत करने वाला बने और हम नमन से निर्वाण को वर सके।

12.09.2000

❖ ❖ ❖

10. गंगा लौट हिमालय आए

आध्यात्मिकता में सम्पूर्णता प्राप्त होने पर ही मुक्ति प्राप्त हो पाती है, सिद्धि प्राप्त हो पाती है, इसलिये आध्यात्मिकता के स्वरूप को समझना आवश्यक है। आध्यात्मिकता से तात्पर्य है - अधि+आत्मा अर्थात् आत्मा में। आत्मा में जब हमारी पूर्णतया उपस्थिति होती है, तब मुक्ति प्राप्त हो जाती है और जब तक हम पूर्णतया आत्मा में स्थित नहीं होते हैं तब तक प्रतिभ्रमण है। भगवान महावीर से प्रश्न पूछा गया कि प्रतिक्रमण करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? ''पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?'' (उत्तरा. 29/12) बात बहुत सामान्य है कि प्रतिक्रमण करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है, परन्तु आज के युग में मनुष्य का प्रतिक्रमण क्या होता है ? वही तोतारटन- 'बिल्ली आई, बचते रहना' - यही तो प्रतिक्रमण है। रटी-रटाई पाटियों को बोलना ही प्रतिक्रमण कर लेना है। किन्तु प्रतिक्रमण का स्वरूप केवल रटी-रटाई पाटियों को बोलना नहीं होता है, उन्हें अंतर में झंकृत करना होता है; अंतर का परिमार्जन करना होता है। जब तक अंतर झंकृत नहीं होता है, प्रतिक्रमण नहीं बन पाता है। प्रतिक्रमण करने वालों का यदि आप इतिहास देखेंगे तो प्रतिक्रमण के स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी। महासती मृगावती ने प्रतिक्रमण किया और प्रतिक्रमण करते-करते कर्मों का क्षय कर लिया, परिणामस्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त हो गईं। वहीं चंदनबालाजी को जब ज्ञात हुआ कि मृगावती महासती केवलज्ञानी बन गईं, सर्वज्ञ बन गईं तो उनके मन में पश्चात्ताप हुआ, तब प्रतिक्रमण प्रारम्भ हो गया कि मैंने इस चरमशरीरी आत्मा की अवज्ञा की, मैंने इसे उपालंभ दिया और प्रतिक्रमण करते-करते उन्होंने भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। क्या यह तोतारटन जैसी बात थी ? तोतारटन के भाव को समझें। जब तक हम अंतर में संबंधित बात को प्रकट नहीं कर लेते हैं या हमारे अंतर में सम्बंधित बात प्रकट नहीं हो जाती है, तब तक वह तोता-रटन है।

एक व्यक्ति स्वप्न देखता है तो क्या उससे कुछ उपलब्धि होती है ? यह समझने की बात है। एक दिन गौतममुनिजी आपको सुना रहे थे कि एक व्यक्ति फुटपाथ पर पड़ा हुआ था और स्वप्न देख रहा था। स्वप्न देखते हुए हाथ थोड़ा ऊपर को उठा और दुकान के ताले पर चला गया। इधर जो पहरेदार घूम रहे थे उन्होंने देख लिया कि ताले पर हाथ है। उन्होंने समझा, ताला तोड़ रहा है और हाथ पर डंडा पड़ गया। फुटपाथ पर रहने वाला यदि रंगीले स्वप्न देखता है तो कोई रुकावट नहीं है! ऐसा नहीं है कि फुटपाथ पर पड़ा हुआ व्यक्ति यह स्वप्न नहीं देख सकता कि वह दिल्ली के तख्त पर बैठा हुआ है। क्या वह यह स्वप्न नहीं देख सकता कि वह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा हुआ है, उसके माथे पर ताज रखा हुआ है, उसका राज्याभिषेक हो रहा है ? क्या वह ऐसा स्वप्न नहीं देख सकता कि वह भारत का प्रधानमंत्री बन गया है, राष्ट्रपति बन गया है और राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण कर रहा है ? यह बात अलग है कि जैसे ही स्वप्न टूटे, वह व्यक्ति अपने-आप को जहाँ का तहाँ पाये। तो स्वप्न में वह जो-कुछ भी देखता है, वह केवल स्वप्न की बात होती है। उससे वह राष्ट्रपति नहीं बन पाता है, उससे वह प्रधानमंत्री नहीं बन जाता है। स्वप्न देखने मात्र से वह दिल्ली के सिंहासन का मालिक नहीं बन जाता है। जैसे स्वप्न देखने वाला राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री नहीं बनता है, वैसे ही हम केवल किताबों से पद उच्चरित करते रहें, हम केवल उन पाटियों की रटना करते रहे हैं तो वह यथार्थ में प्रतिक्रमण नहीं होता। हम किताबों से जानते रहे हैं कि आत्मा ऐसी होती है; वैसी होती है, आत्मा चार गतियों में प्रतिभ्रमण करती रहती है; आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुण वाली होती है तो ऐसे किताबी ज्ञान से कोई सिद्धि नहीं मिल सकती। ऐसे व्याख्यानों के आधार को समझें। एक दिन शास्त्रों के धरातल पर यदि हम अपने-आप को जीव मानकर चल रहे हैं तो यह केवल स्वप्न में सिंहासन पर बैठने जैसी बात है। स्वप्न में जैसे व्यक्ति सिंहासन पर बैठता है, वैसे ही हम केवल शास्त्रों के स्वप्न में जी रहे हैं, हम केवल रटे-रटाये वाक्यों में जी रहे हैं, परन्तु उनके माध्यम से आत्मा की सही अनुभूति नहीं हो पायेगी और हम अपने-आप को आध्यात्मिकता की पूर्णता में प्रकट नहीं

कर पायेंगे, न ही हमारे भीतर आध्यात्मिकता की वह पूर्णता ही सिद्ध हो पायेगी।

प्रतिक्रमण यथार्थ में अंतर में प्रकट होता है और जो कुछ भी अपराध हो गये हैं, जो कुछ भी स्खलनाएँ हो गई हैं, उन सबसे अपने-आप को मोड़ना होता है। प्रतिक्रमण के लिए बहुत बार कहते हैं कि जो आत्मा बाहर चली गई, उसको वापस अपने स्थान पर लाना। कैसे लाओगे ? गंगा जब हिमालय से निकली और चली गई समुद्र में, तो वहाँ से अब लौटाकर वापस उसे हिमालय में कैसे लाओगे ? ले आओगे ? यदि ला सको मुश्किल से भी तो भी प्रयत्न किया जा सकता है। इस स्थिति को थोड़ी गहराई से समझें। एक काम तो कठिन होता है, एक होता है असंभव। यह संभव लगता है या असंभव लगता है ? चलिये विचार करेंगे इस पर भी।

प्रतिक्रमण में यथार्थ में हम अपने जीवन का चिंतन करें। आज मनुष्य-तन में हमारी उपस्थिति है और मनुष्य-तन में रहते हुए हमने पाँच इंद्रियाँ प्राप्त की हैं। ये पाँच इंद्रियाँ जो प्राप्त हुई हैं, किन कर्मों के उदय से प्राप्त हुई हैं ? ये इंद्रियाँ जो प्राप्त हुई हैं वे क्षायोपशमिक भाव से प्राप्त हुई हैं। या यों समझिये कि जो इंद्रियाँ प्राप्त हुई हैं वे क्षयोपशम से प्राप्त हुई है। जो पाँच इंद्रियाँ क्षयोपशम से मिली हैं, वे राग-रंग में जा रही हैं, औदायिक भाव में जा रही हैं, नाच-गान देखने में जा रही हैं, टीवी और सिनेमा देखने में जा रही हैं, स्वाद में जा रही हैं, इस अनुभव में जा रही हैं कि यह चरका है, यह मीठा है, यह स्वादिष्ट है। यह क्या है ? क्षयोपशम से प्राप्त इंद्रियों का उपयोग हम कहाँ कर रहे हैं ? औदायिक भाव में कर रहे हैं। या यों समझिये कि इन इंद्रियों के माध्यम से हम औदायिक भाव की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। तो ज्ञानीजन कहते हैं कि जो तुम्हें क्षयोपशम से मिला है, परन्तु औदायिक की तरफ तुम्हारा रुझान बन रहा है तो इस औदायिक भाव से अपने-आप को रिटर्न करो और क्षयोपशम भाव में, क्षायिक भाव में स्वयं को स्थित करो।

क्षायिक भाव और क्षायोपशमिक भाव में इन इन्द्रियों का उपयोग

कैसे हो सकता है ? हो सकता है क्या ? आप वीतराग वाणी सुन रहे हैं, आप शास्त्रों को पढ़ रहे हैं, यह क्षायोपशमिक भाव है। है या नहीं ? है। अभी यह बात आपके सामने मैं बोल गया कि हिमालय से निकली गंगा को समुद्र तक ले गये, समुद्र तक वह चली गई, किन्तु वहाँ से लौटा करके क्या वह वापिस हिमालय में पहुँच सकती है ? असम्भव नहीं है। पुरुषार्थ की आवश्यकता है और पुरुषार्थ हो तो समुद्र से भी गंगा को हिमालय तक पहुँचाया जा सकता है और गंगा पहुँचती भी है। आप कहेंगे कि कैसे पहुँचती है ? बस, ऐसे पहुँचती है कि समुद्र के पानी को सूर्य का ताप लगता है और वह पानी भाप बनता है और बादल बनकर वही पानी जाकर हिमालय से टकराता है। बताइये, वह पानी हिमालय तक पहुँच गया कि नहीं पहुँच गया ? गंगा का पानी जहाँ से प्रारम्भ हुआ था वहीं पर पहुँच गया, किन्तु उसके लिए सूर्य का ताप चाहिए था। यदि सूर्य का ताप मिले तो वह गंगा का पानी हिमाचल तक वापिस जा सकता है। अभी हमारी आत्मा, हमारी गंगा के प्रवाह की यात्रा की दिशा समुद्र की तरफ बनी हुई है, औदायिक भाव की तरफ बनी हुई है और औदायिक भाव में प्रवाहित इस शक्ति को यदि आत्मनिष्ठ बनाना है, आत्मा के अन्तर में केन्द्रित करना है तो आवश्यकता होगी कि इसे सूर्य का ताप मिले। वह सूर्य का ताप कैसा ? वह ताप, जिसे आप तपस्या की संज्ञा दे देते हैं। तपस्या का यदि वह योग मिले तो तपस्या के द्वारा उस औदायिक भाव को सोखा जा सकता है और औदायिक भाव को सोख करके आत्मा को शुद्ध स्वरूप में उपस्थित किया जा सकता है।

बन्धुओं, साधु-साध्वियाँ संयम स्वीकार करते हैं, साधु बनते हैं, साधु बनने के पश्चात् ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय उनका मुख्य कर्त्तव्य होता है, किन्तु अनिवार्यतः सारे के सारे साधु और साध्वियाँ ज्ञान, ध्यान, सेवा, स्वाध्याय में ही लग जायें, कोई जरूरी नहीं है। यदि ऐसा होता तो उत्तराध्ययन सूत्र में पापश्रमण नाम का अध्याय जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ पर स्पष्ट बतलाया गया है कि कई साधु, कई साध्वियाँ एक बार साधु-जीवन को स्वीकार कर लेते हैं और स्वीकार करने के साथ ही फिर सोच लेते हैं कि हम तो साधु बन गये, अब हमको क्या

करना है और लग जाते हैं खाने-पीने, मौज-मस्ती, सोने में; उसी में अपना सारा समय लगा देते हैं। क्षायोपशमिक भाव से साधु-जीवन की प्राप्ति हुई, क्षायोपशमिक भाव से उन्हें महाव्रत प्राप्त हुआ, क्षयोपशम भाव से त्याग और नियम स्वीकार किया, किन्तु उसके बाद क्या स्थिति बन गई ? उस क्षायोपशमिक भाव से निकलकर वे खाने-पीने, मौज-मस्ती में लग गये; ऐशो-आराम में पड़ गये। आप कहेंगे कि साधु और ऐश ! ऐश का मतलब क्या है ? इंद्रियों के विषय के प्रति आसक्त हो जाना ? ऐश का अर्थ यह नहीं है कि बहुत सम्पत्ति हो, गादी-तकिये पर सोयें, ऐश करें। ऐश का तात्पर्य है प्रमाद में अपने-आप को लगा देना। इस प्रकार का ऐशो-आराम, खाया, पीया और सोये। न कोई ज्ञान; न कोई स्वाध्याय, न मौन, न चिंतन। इस प्रकार की अवस्था यदि उपस्थित की जाती है तो वह साधु भी, चाहे उसने क्षायोपशमिक भाव से महाव्रत स्वीकार किया हो, वर्तमान में वह औदायिक भाव की तरफ दौड़ रहा है, यह समझा जायेगा। ऐसे साधु, जो औदायिक भाव में दौड़ रहे हैं, वे त्याग, तपस्या और ज्ञान, ध्यान, सेवा, स्वाध्याय से अपनी आत्मा को भावित नहीं कर पायेंगे। इसीलिए शास्त्रकारों ने उन्हें पापश्रमण की संज्ञा दी है। पापश्रमण की अवस्था में वह यदि बना रहता है तो अपने जीवन को संभाल नहीं सकता है। किन्तु जो साधु संयम स्वीकार करने के पश्चात् यह विचार करता है कि मेरे लिये एक तरफ तो पुनवानी का संयोग बना और दूसरी तरफ क्षायोपशमिक भाव की स्थिति बनी, अनन्तानुबंधी कर्म का क्षयोपशम हआ, अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हुआ, प्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम प्राप्त हुआ, तब जाकर महाव्रतों की प्राप्ति हुई। यह मेरा सौभाग्य है तो वह शुद्ध साधुत्व के मार्ग पर चल पाता है। श्रावक को भी सोचना चाहिए कि अनन्तानुबंधी कर्म का क्षयोपशम, अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हुआ तब उसके अन्तर में त्याग, प्रत्याख्यान और व्रत करने की भावना जगी है और जो भावना जगी है उसको वाह्य भौतिक सम्पत्ति और वैभव की चकाचौंध में मैं कुंठित क्यों करूँ ? उस भावना को क्यों हिलने दूं। कभी-कभी क्षयोपशम भाव मन्द होता है और औदायिक भाव की आँधी चलती है तो जैसे चिमनी की ज्योति फरफराने लगती है, ज्योति पूर्णतया

जाग्रत नहीं रह पाती है, वैसे ही हमारी भावना भी हिलने लगती है। किन्तु यदि व्यक्ति पुरुषार्थ करे और उस भावना को प्रवल बनाने के लिए उस प्रकार का माध्यम अपना ले तो वीतराग-वाणी, साधु और संत, श्रावक और श्राविका का सान्निध्य उसको तारने वाला बन जाता है। साधु के दर्शन पुण्य का मार्ग है और वे उसके साथ ही तीर्थभूत होते हैं। शास्त्र प्रमाण है कि नंदन मणियार की आत्मा को साधु-संतों का योग-संयोग नहीं मिला तो वे व्रत से हिल गये और औदायिक भाव में भ्रमित हो गये।

कई लोग सोचते हैं कि रोज-रोज क्या सुनें, एक ही बात सुनते हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि किस समय हमारी आत्मा में कौनसी बात लगती है, पता नहीं। किस समय कौनसी बात हमारे काम आ जाए और कौनसी बात कब लग जाए, यह कहा नहीं जा सकता। इसलिए प्रवचन यदि निरन्तर सुने जाते हैं तो उससे एक तो हमें यह लाभ होता है कि हमारी इंद्रियाँ औदायिक भाव से हटकर क्षायोपशामिक भाव में लगी रहती हैं और भावना का क्षयोपशम भाव बना रहता है तो व्रत और नियम का विचार बनता है, त्याग और नियम स्वीकार करने की भावना रहती है। इसलिए जब भी समय मिले, प्रवचन सुनें, स्वाध्याय करें। दूसरा लाभ यह होता है कि समय का सदुपयोग हो जाता है, अन्यथा जब समय मिला तो टी.वी. के सामने बैठ गये, फिल्म देखने बैठ गये या खाने-पीने में लग गये, नाच-गाने में लग गये तो ऐसे सारे प्रसंग आपको औदायिक भाव में ले जाने वाले बनते हैं। बन्धुओं, मैं कह रहा था कि साधु और साध्वियों को यह चिंतन करना चाहिए कि यह क्षायोपशमिक भाव में त्याग और प्रत्याख्यान का जो अवसर मिला है तो उसका सदुपयोग करें। कहीं ऐसी हवा नहीं बहे कि हम इस क्षयोपशम भाव को भुलाकर औदयिक भाव में चले जाएँ।

प्रतिक्रमण का मूल समझने की आवश्यकता है। औदायिक भाव व्यावहारिक भाव है, क्षयोपशम भाव आत्मा के भाव हैं। मूल आत्मा का भाव पारिणामिक भाव है और क्षायिक और क्षायोपशमिक आत्मा तक पहुँचाने वाले हैं। क्षयोपशम भाव एकांत आत्मा के भाव नहीं हैं, किंतु आत्मा तक पहुँचाने वाले हैं। गाड़ी में बैठे हैं, गाड़ी आपका घर नहीं है।

गाड़ी आपका घर है या घर आपका घर है ? अभी तो आप कहेंगे कि महाराज, घर भी हमारा नहीं है। समझ लीजिये कि निवास अलग है और गाड़ी अलग है। वैसे क्षायोपशमिक भाव गाड़ी हैं, इनके माध्यम से हम अपने निवास तक पहुँचने की स्थिति में आते हैं वैसे ही तपस्या गाड़ी है और इस गाड़ी के माध्यम से हम अपने स्थान पर पहुँचते हैं। जैसे- समुद्र का पानी सूर्य के ताप से हिमालय तक पहुँच जाता है। वह ताप उसके बीच में माध्यम है, उसको वहाँ तक पहुँचाने में सहायक बनता है, वैसे ही हमारी आत्मा, जो क्षायोपशमिक भाव में प्रवाहित होती है, वह क्षायोपशमिक भाव पारिणामिक भाव तक पहुँचाने वाला है, आत्मा तक पहुँचाने वाला होता है। एक बाह्य, एक अंतर और तीसरा परमात्मा। बाह्य आत्मा का रूप औदायिक भाव है, अन्तर आत्मा का क्षायक और क्षयोपशम और परमात्मा का रूप पारिणामिक भाव है। जब हम अपने पारिणामिक भाव में आ जाते हैं तो समझ लीजिये कि हमने अपनी सीमा को प्राप्त कर लिया है, अपने निवास पर हमने अपनी उपस्थिति दर्ज करा दी है।

वन्धुओं ! तपस्या का क्रम आपके बीच में चल रहा है तो ध्यान रखें कि हमारा लक्ष्य वही रहना चाहिए कि हम क्षायोपशमिक भाव से क्षायिक भाव में प्रवेश करें और पारिणामिक भाव की यात्रा करें। यदि किसी को अमेरिका जाना है तो क्या यहाँ से कार में बैठकर अमेरिका की यात्रा हो जाएगी ? बस में, ट्रेन में हो जाएगी ? नहीं हो पायेगी। फिर किससे होगी ? प्लेन से हो पायेगी। या तो पानी का जहाज या प्लेन, इनमें से कोई है तो हो पायेगी। तो जैसे आप यदि अमेरिका जाने के लिए तैयार होते हैं तो पहले हवाई अड्डे तक पहुँचने के लिए कार की सवारी करते हैं। कार से हवाई अड्डे तक पहुँचते हैं। परन्तु जयपुर हवाई अड्डे तक पहुँचने से भी उद्देश्य पूरा नहीं होता, क्योंकि जयपुर से अमेरिका के लिये हवाई उड़ान नहीं है। तव आपको दिल्ली या मुम्वई जाना पड़ेगा। तो पहले जयपुर से दिल्ली और मुम्वई के लिए यात्रा का कोई माध्यम अपनाना होगा और फिर दिल्ली या मुम्वई पहुँचकर वदली करनी पड़ेगी, वैसे ही क्षायोपशमिक भाव रूपी कार या रेल की यात्रा करते हुए उस स्थान पर

पहुँचते हैं, जहाँ से क्षायिक भाव में उड़ान हो सकती है। दिल्ली या मुम्बई तक जब हम पहुँच जाते हैं तब वहाँ से उस प्लेन को पकड़ते हैं। वैसे ही क्षायिक भाव के प्लेन को पकड़ें। वह हमें पारिणामिक भाव तक पहुँचा सकता है।

एक सम्राट ने विचार करके एक तालाब खुदवाया। घोषणा कि इसका उद्‌घाटन दूध से होगा। सभी व्यक्ति एक-एक लोटा दूध तालाब में डालेंगे। आज की बुद्धि वाले लोग वहाँ ज्यादा थे। सबने सोचा कि सारी दुनिया दूध डालेगी ही, अगर मैं दूध नहीं डालूं तो क्या फर्क पड़ेगा। दूध की जगह पानी का एक लोटा डाल दूंगा। यदि मेरा एक लोटा पानी पड़ गया और लेक्टोमीटर भी लगा दिया गया तो भी क्या पता चलेगा ? यदि पता भी चल गया तो यह कैसे पता चलेगा कि पानी किसने डाला था। सारी नगरी के लोग उस व्यक्ति की सोच वाले निकले। सुबह सम्राट ने देखा तो तालाब पानी से लबालब भरा हुआ था, उसमें दूध का एक लोटा भी नजर नहीं आया। हमारी ऐसी सोच नहीं बननी चाहिए। अपने कर्त्तव्य के प्रति, यदि हम जागरूक रहते हैं तो यह भी एक प्रकार की तपस्या है। आप यह मत सोच लेना कि अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना तपस्या नहीं है।

शास्त्रकारों ने बहुत गहरी बात कही है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, चतुर्विध संघ की जो अम्लान भाव से सेवा-सुश्रूषा करता है वह व्यक्ति कर्मों की निर्जरा करके परिनिर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने में सफल हो सकता है। वह अपने पारिणामिक भाव में पहुँच पाता है।

आपने नन्दीसेन मुनि का दृष्टान्त सुना होगा, जिन्होंने सेवा के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया था। सेवा कोई मामुली चीज नहीं होती। सेवा करने में बहुत कड़वी-कठोर बातें सुननी पड़ती हैं। उस समय अपनी तितिक्षा बनाये रखें तो हम क्षायोपशमिक भाव और प्रतिकमण करते हुए उसी के माध्यम से पारिणामिक भाव में पहुँचने का प्रयत्न कर सकते हैं। यदि ऐसा भाव होता है तो वस्तुतः जीवन में आनन्द की लहर परिव्याप्त हो सकती है।

क्षायोपशिक-क्षायिक आदि भावों को सुरक्षित रखने में वातावरण

भी एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। किसी तीर्थंकर की आत्मा यदि अनंतकाल बीतने पर किसी कर्मवशात् यदि भिक्षु कुल में उत्पन्न हो जाये तो इन्द्र उस समय अपना कर्त्तव्य निर्वाह करते हैं, उन्हें क्षत्रिय कुल में किसी क्षत्राणी के गर्भ में स्थापित कर देते हैं। विचार करें तो इसके पीछे भी वातावरण का प्रभाव मुख्य रूप से उभरता है।

आज का मनोविज्ञान भी यह स्वीकार करता है किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में तीन बातों की आवश्यकता होती है- स्वयं के संस्कार, आनुवांशिक संस्कार और वातावरण। इन तीनों की संयुति से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। स्वयं के संस्कार तो होते ही हैं, किन्तु माता-पिता के आनुवंशिक संस्कार भी चाहिए, साथ ही उस प्रकार का वातावरण भी चाहिए। यदि भिक्षु कुल में जन्म होता है तो वहाँ का वातावरण भिन्न होता है। क्षत्रिय कुल में यदि जन्म होता है तो वहाँ का वातावरण अपने-आप में विशिष्ट होता है। क्षत्रिय कुल में जन्म लेने वाला जिस वातावरण में रहता है, उसमें शौर्य, साहस, उदारता जैसे गुणों के प्रसंग जुड़े रहते हैं। क्षत्रिय कुल में वंश-परम्परा से शौर्य और उदारता की स्थिति होती है और दया, दृढ़ता, त्याग जैसे अनेक प्रकार के गुण भी वहाँ स्वाभाविक रूप से विद्यमान होते हैं। इसीलिए उत्तम महापुरुषों का जन्म क्षत्रिय कुल में होता रहा है। कुल की अपनी स्थिति होती है और उसके भी अपने संस्कार होते हैं। इसीलिए कुल और गोत्र की महिमा प्राचीन समय से गाई जाती है और उस पर गर्व और गौरव के भाव भी प्रकट किये जाते हैं। कुल की आन, वान और शान पर मर-मिटने वाले वीरों की अनेक कथाओं से आप परिचित भी होंगे। 'रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाहिं पर वचन न जाई' जैसी बातें इसीलिये कहावतें वन गई हैं।

बन्धुओं, चाहे साधु हों, चाहे श्रावक हों, उसका दायित्व एवं कर्त्तव्य यही होना चाहिए कि कोई भी आत्मा यदि औदायिक भाव की ओर प्रवाहित हो रही है तो उसको प्रेरणा दें और क्षायोपशमिक भाव में स्थित करने का प्रयत्न करें और उसे ऐसा वातावरण दें कि वह औदायिक भाव में रमे नहीं। यदि यह प्रयत्न होता है तो ही हमारा प्रतिक्रमण सही दिशा में सम्पन्न हो पायेगा, नहीं तो आज के युवाओं की तरह यह कहते

हुए मिलेंगे कि महाराज, रोज-रोज इन पाटियों को सुनते-सुनते, बोलते-बोलते हम तो बोर हो जाते हैं। बोर इसलिए हो जाते हैं क्योंकि उनके अन्तर्निहित भावों को वे जान नहीं पाते हैं। तो मैं तो उनसे भी कहना चाहूँगा कि वे उसमें अन्तर्निहित भावों को समझें। भावों को यदि वे समझेंगे तो सही तरीके से वे प्रतिक्रमण सम्पन्न कर पायेंगे। सही तरीके से प्रतिक्रमण में प्रवृत्त होना आवश्यक भी है क्योंकि तभी व्रत-आचारादि में रही हुई त्रुटियों या स्खलनाओं का परिमार्जन हो पाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कथन है कि प्रतिक्रमण से जीव स्वीकृत व्रतों के छिद्रों को बन्द कर देता है (29-12)। प्रतिक्रमण से आश्रवों का निरोध तो होता ही है, अतिचारों के कलंक भी मिटते हैं और आराधना की सतत् उपयुक्तता सुनिश्चित होती है। इस प्रकार सतत् सावधान हुआ व्यक्ति संयम योग में तल्लीन रहकर तथा सम्यक् समाधियुक्त होकर विचरण करता है। जीवन की सफलता और सार्थकता भी उसी में है। यह आध्यात्मिकता में सम्पूर्णता प्राप्त करने का मार्ग भी है।

13.09.2000

❖ ❖ ❖
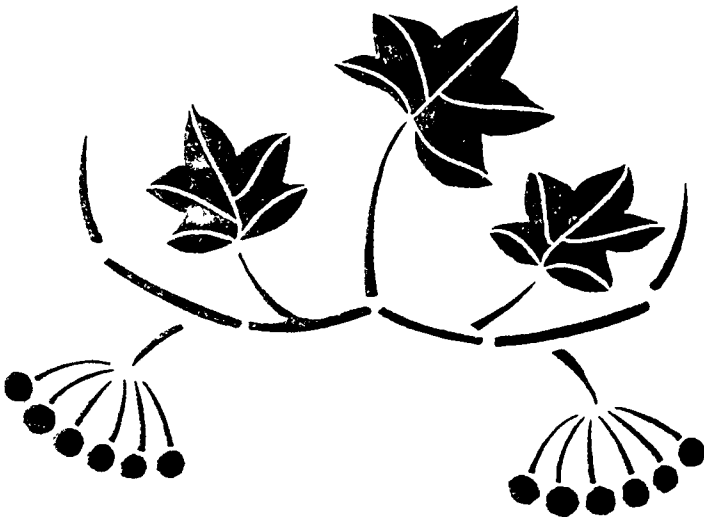
11. करना घर की सार-सम्हाल

चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर प्रभु महावीर एवं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के शासन में चलने वाले साधु और साध्वियों को उभयकाल प्रतिक्रमण करने का निर्देश है। अर्थात् सुबह भी प्रतिक्रमण करना है और शाम को भी प्रतिक्रमण करना है। कभी-कभी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सुबह-शाम दोनों समय प्रतिक्रमण, इतना समय केवल पाटियों को बोलने में क्यों लगाया जाए ? बन्धुओं, सुबह और शाम प्रतिलेखन भी किया जाता है और प्रतिलेखन के इस सिलसिले में यह बात भी सामने आ जाती है कि क्या इसमें जीव घुस जाता है। सुबह-शाम वस्त्रों को देखना, प्रतिलेखन करना क्यों आवश्यक किया गया है ? ऐसी वाक्यावली जब कभी साधुओं के मुख से सुनाई देती है तो विचार होता है कि हमारी श्रद्धा, हमारी निष्ठा इन नियमों के प्रति कितनी प्रगाढ़ है। क्या इन नियमों को हम भार मानकर चल रहे हैं ? यदि इन नियमों के प्रति हमारी प्रगाढ़ आस्था नहीं है तो हमें उसके कारणों की खोज करनी चाहिए, उसके पीछे निहित सिद्धांत को जानना चाहिए। प्रतिलेखन जीव की रक्षा के लिए किया जाता है। किस समय छोटे-छोटे कुंथवे, छोटे-छोटे जीव कपड़े की किस तह में घुस जाएं, कहा नहीं जा सकता और एक भी जीव की यदि विराधना हो गई तो वहाँ हिंसा का प्रंसग बनेगा। यदि वस्त्र को नहीं देखा जाता है तो वैसे ही उन जीवों के प्रति उनकी उपेक्षा-भाव की स्थिति रहती है। प्रतिक्रमण के संबध में तो बताया गया कि लगे हुए व्रतों में यदि कहीं कोई छेद हो जाए तो प्रतिक्रमण के माध्यम से उसकी वैल्डिंग कर ली जाती है। यदि कोई चद्दर फट जाती है तो जैसे उसमें सिलाई की जाती है, कोई धातु का सामान टूट जाता है तो उसकी वैल्डिंग की जाती है, वैसे ही व्रत, प्रत्याख्यान आदि में यदि कहीं कोई छेद हो गया हो, कोई स्खलना हो गयी हो तो प्रतिक्रमण के माध्यम से उसको वेल्ड किया जाता है। परम प्रतापी आचार्य पूज्य श्रीलालजी महाराज फरमाया करते थे कि जो पक्के मकान हैं, पक्की बिल्डिंगें हैं, सीमेंटेड हैं, उनकी यदि

जल्दी-जल्दी सार-सम्हाल नहीं भी करें तो भी एकाएक उन बिल्डिंगों का कुछ बिगाड़ नहीं होता, किन्तु जो बिल्डिंग कच्ची है, जिसमें पानी चूने का अंदेशा बना रहता है, उस बिल्डिंग को, उस कच्चे मकान को यदि निरन्तर नहीं संभाला जाये तो संभव है वह मकान गिर जाए, ढह जाए, सुरक्षित नहीं रह पाये। 22 तीर्थकरों के समय के साधुओं के व्रत, उनकी प्रतिज्ञाएँ पक्के मकान के रूप में होती थीं। जब कोई छिद्र हो जाता या पानी चूने लगता था तो वैल्डिंग करके ठीक कर लेते थे, किन्तु वर्तमान यानी अन्तिम तीर्थंकर के समय के साधुओं का त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत आदि कच्चे मकान की तरह हैं। कच्चे मकान की निरन्तर सार-सम्हाल करनी पड़ती है। यदि उसके प्रति लापरवाही कर दी जाए तो वह मकान ढह सकता है।

हमारे त्याग और नियम भी कच्चे हैं। आप कहेंगे कि कच्चे कैसे हैं ? क्या इतने कच्चे हैं ? कच्चे से तात्पर्य है कि हम क्षायोपशमिक भाव में चल रहे हैं और क्षायोपशमिक भाव में कभी ऐसी आंधी आ जाए औदयिक भाव की, तो वह मकान ढह भी सकता है। पर कई बार उदाहरण के रूप में कह देते हैं कि प्रसन्नचन्द्र राजऋषि पर्याय में रहे हुए हैं, आतापना ले रहे हैं तभी भगवान महावीर से पूछा गया कि अभी ये कालधर्म को प्राप्त करें तो कहाँ चले जायेंगे ? उत्तर मिला- सातवीं नरक में। साधु जाता है क्या सातवें नरक में ?

कोई बेचारी बूढ़ी महिला थी, आरंभ-समारंभ में लगी रहती थी। संतों ने कह दिया- ''माँजी क्या कर रही हो ? यह आरंभ-समारंभ नहीं छोड़ोगी तो रत्नप्रभा में जाना पड़ेगा।'' उसने उत्तर दिया- ''महाराज, मुझे कहाँ पड़ी है रत्नप्रभा, रत्नप्रभा तो आपके लिए है।'' उसको क्या पता था कि रत्नप्रभा क्या है। उसने सोचा कि कोई रत्नों से जड़ी जगह होगी। ऐसे स्थान पर जाना पड़ेगा तो महाराज, हमें कहाँ ऐसी जगह पड़ी है, यह तो आपके लिए है।

साधु कौनसे नरक में जाएगा ? साधु, यदि वह आराधना की स्थिति में है तो स्पष्ट बतलाया गया है कि एकमात्र वैमानिक देवगति का ही आयुष्यबंध करता है और एकमात्र वह वैमानिक देव में ही उत्पन्न होता है। विराधना की स्थिति में वह कहीं भी जाए, वह स्वतंत्र है, किन्तु

यदि वह साधु जीवन की आराधना कर रहा है तो उसके लिए निश्चित है कि यदि वह आयु का बंध करता है तो एकमात्र वैमानिक का ही बंध करेगा और यदि आयु का बंध नहीं करता है, अबंध अवस्था में रहता है तो अन्य सारे कर्मों को क्षय करके मुक्ति को प्राप्त करता है। कहने का आशय है कि जहाँ प्रसन्नचन्द्र राजऋषि साधु की पोशाक में आतापना ले रहे हैं तो उनके लिए भगवान महावीर कह रहे हैं कि वे सातवीं नरक में जायेंगे। तो क्या समझना चाहिए ? स्पष्ट है कि ऊपर की पोशाक तो साधु की है, किन्तु अन्तर में उस समय वे साधुता में नहीं थे, अन्तर से वे साधु नहीं थे। यह औदयिक भाव का हमला है कि उस समय ऐसे कर्मों का उदय हुआ। वह मोहकर्म का उदय, वह कषाय का उदय, अनन्तानुबंधी कषाय का उदय है। उस औदायिक भाव में साधु के व्रत छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उनके हो गए थे। क्षायोपशमिक भाव यह होता है कि उदय भी रहता है, किन्तु उदय को वह क्षय करता हुआ चला जाता है। कभी-कभी हल्के बादल होते हैं और हल्के बादलों में सूर्य का प्रकाश रुक नहीं पाता है वैसे ही बादल हल्के होते हैं और हवा के प्रभाव से उन बादलों को हटा दिया जाता है, परिणाम-स्वरूप वे बादल शिथिल हो जाते हैं और पूरा प्रकाश प्राप्त हो जाता है। बन्धुओं, वैसे ही क्षायोपशमिक भाव में चलते हुए हमारी अवस्था साधुता के रूप में रहती है, किन्तु हो सकता है कि कषायों का उदय भाव हो जाए, मोहकर्म का उदय भाव हो जाए और ऐसा अनेक बार अनेक साधुओं के साथ में घटित हो जाता है। अनेक श्रावक-श्राविकाओं के साथ में भी ऐसा घटित हो सकता है, क्योंकि हमारी स्थिति नाजुक है।

अपने व्रतों और नियमों में हम कितने आगार रखते हैं ? एक प्रत्याख्यान होता है उपवास का और हम कितने आगार रख लेते हैं ? पौषध एक रात्रि का करते हैं और कितने आगार रख लेते हैं ? एक नवकारसी का पच्चक्खान करते हैं उसमें भी आगार रख लेते हैं, उसमें कई प्रकार की छूट, सुविधाएँ रख लेते हैं। उन सुविधाओं का उपयोग करें या नहीं करें, यह अलग बात है, किन्तु कई प्रकार की सुविधाएँ रख ली जाती हैं। यह हमारी कमजोरी है और इस कमजोरी के चलते यह देखना आवश्यक हो जाता है कि हम अपने त्याग और नियम को निरन्तर सुबह और शाम पुनः-पुनः देखने की कोशिश करें कि कहीं उनमें छेद तो नहीं

हो गया है और यदि छेद हो गया हो तो हम उसे समय पर ही बन्द कर दें, क्योंकि आप जानते हैं कि यदि नाव में एक छोटा-सा छेद भी हो जाये और उसमें से रिसकर पानी आने लगे तो वह छेद उस नाव को भी डुबोने वाला बन सकता है। नाव में यदि छेद हो जाए और उस छेद को बन्द कर दें, वैल्डिंग कर दें तो फिर नाव सुरक्षित रूप में चलने लगती है, तैरने लगती है। वैसे ही जो व्रत, प्रत्याख्यान, नियम लिये गये हैं, उनकी प्रतिदिन सुबह और शाम प्रतिलेखना करें। यह देखें कि मेरे कौनसे प्रत्याख्यान में, कौनसे त्याग में, कौनसे नियम में, कौनसे व्रत में दोष लगा है, कौनसा व्रत मेरा शिथिल हो रहा है; कहाँ पर स्खलना की स्थिति आ रही है, कहाँ मेरी कमजोरी बन रही है और कौनसा कौना कमजोर हो रहा है, उस कौने को मजबूत करने का कार्य करें। यह कार्य प्रतिक्रमण करता है। इसलिए प्रभु महावीर ने साधु और साध्वियों के लिये उभयकाल प्रतिक्रमण की बात कही है। यह वे प्रतिदिन करें। कहीं पर चले जाएँ तो कहा जाता है कि सुबह का भूला हुआ शाम को घर आ जाता है तो भूला हुआ नहीं कहलाता है। ठोकर खाकर गिर जाने वाला पुनः संभल जाता है तो उसको गिरा हुआ नहीं माना जाता है, वैसे ही साधु से कहीं कोई स्खलना हो गयी हो तो प्रतिक्रमण करके संशोधन कर लें, क्योंकि प्रतिक्रमण करके आत्मा को शुद्ध करने की स्थिति बनती है और छिद्र बन्द हो जाता है।

महासती रंगूजी का आदर्श जीवन था। बतलाया जाता है कि धमोतर गांव के ठाकुर की दृष्टि उन पर पड़ गई और उसने विचार किया कि येन-केन-प्रकारेण, इस अबला, अकेली को अपने चंगुल में फंसाना है। उसने पहरा लगा दिया, दरवाजे पर ताला लगा दिया। यह उनके गृहस्थ जीवन की बात है। जब रंगूजी को मालूम पड़ा कि वे विकट परिस्थिति में फंस गई तो उन्होंने अपने अन्तर से परमात्मा का स्मरण किया, आत्म-निरीक्षण करते हुए आत्मा को संबोधन दिया और सहसा मकान के पिछवाड़े एक ऊँट आ खड़ा हुआ और उस पर एक भाई था। रंगूजी ने पूछा कि तुम कौन हो ? ऊँटवाले ने कहा- बोलो क्या बात है ? रंगूजी ने कहा कि यहाँ से निकलकर नीमच पहुँचना है। ऊँटवाले ने कहा- बैठो। और उस ऊँट पर सवार होकर वे नीमच पहुँच गईं। उधर ठाकुर साहब को बाद में पता लगा कि बात कैसी हो गयी। बाद में रंगूजी जब अपने

स्थान पर पहुँचती हैं तो वहाँ न ऊँट था, न कोई सवार था। ऐसे होते हैं चमत्कार। धर्म का आचरण हमारे जीवन में हो तो देवों का सहयोग भी हमें प्राप्त हो जाता है। शूली हो गई थी सिंहासन-

'शूली का सिंहासन हो गई, शीतल हो गई ज्वाला.....।'
शील जिसने पाला, सच्चा है रखवाला।
फेरो एक माला, हो हो फेरो एक माला।
सुबह और शाम प्रभुजी के नाम की फेरो माला।

बहुत-से भाई सेठ सुदर्शन की कथा जानते हैं। सम्राट ने शूली का आदेश दे दिया तो शूली क्या हो गयी ? सीताजी ने आग में प्रवेश किया तो आग भी शीतल हो गई। ऐसे बहुत-से उदाहरण, बहुत-सी घटनाएँ इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। यह विचार मत कीजियेगा कि ये चौथे आरे की बातें हैं।

यदि आपके भीतर गहरी श्रद्धा है, आपके भीतर धर्म के प्रति पक्का लगाव है तो आज भी देवता आपके चरणों को चूमेंगे, आज भी आपके चरणों में वे नतमस्तक होंगे। महासती रंगूजी की घटना भी कोई पुरानी घटना नहीं है। कुछ ही वर्षों पहले की है, इसी पाँचवे आरे की है। ऐसी और भी बहुत-सी घटनाएँ घटित हुई हैं। आचार्य पूज्यश्री हुक्मीचंदजी महाराज का जब नाथद्वारा में व्याख्यान हो रहा था तब वहाँ सिक्कों की बरसात हुई थी। जब वे रामपुरा में पधारे तो वहाँ महामारी फैली हुई थी जो उनका प्रवेश होते ही जैसे अंधकार भागता है वैसे ही महामारी भी भाग गई। राजीबाई संयम-जीवन स्वीकार करने की भावना लेकर चल रही थीं, किन्तु परिवार वाले साधु-साध्वियों के पास जाने से रोकते थे। घर में सांकलों से बाँधकर रखा हुआ था। आचार्यश्री का गोचरी के लिए पधारना हुआ, उनका कोई इरादा नहीं था, केवल सहज दृष्टि पड़ गई और दृष्टि पड़ते ही सांकलें टूट गईं, आप कहेंगे कि यह अतिशयोक्तिपूर्ण बात होगी, लेकिन ये अतिशयोक्तिपूर्ण बातें नहीं हैं। आज का मनोविज्ञान तो स्पष्ट रूप से इन बातों को स्वीकार करता है। वह स्पष्ट करता है कि यदि हमारे भीतर साधना सध जाए तो ये सब बातें तो बहुत मामूली हैं। इनके पीछे बड़ा चमत्कार मत समझ लीजिए। एकाग्रता यदि सध जाए तो आपके सामने चम्मच रख दें या धातु का कोई भी सामान रख दें और

आप एकाग्र दृष्टि से उसे देखते रहें तो वह चम्मच या वस्तु टूट सकती है, टेढ़ी हो सकती है, मुड़ सकती है, आप उसे चाहे जो रूप दे सकते हैं। यह क्षमता एकाग्र दृष्टि या एकाग्र भाव से प्राप्त हो सकती है और संसार में लोग इसे सिद्ध करके दिखा चुके हैं। दशवैकालिक सूत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि धर्म में एकावधानता बनी रहती है तो देवता भी नमस्कार करने की स्थिति में आते हैं।

महासती सरदारकंवरजी ने 62 दिनों का संथारा, महासती बलिकंवरजी ने 72 दिनों का संथारा और गुलाबकंवरजी ने 82 दिनों का संथारा कैसे पूर्ण किया ? कोई सोच भी नहीं सकता कि इतने दिन निकाले जा सकते हैं। साथ वाली सतियों ने कह भी दिया कि यदि मन में कुछ भी उतार-चढ़ाव की स्थिति हो तो पारणा कर लो, तो वीरतापूर्वक उन्होंने कहा- खबरदार, मेरे सामने आहार की कोई बात करने की आवश्यकता नहीं है, मैंने संथारा ले रखा है। इस प्रकार की सजगता और अंतिम क्षणों तक सजगता, यह कोई सामान्य बात नहीं है। ऐसे अनेक रत्न और अनेक मणियाँ प्रभु महावीर के इस शासन में हुई हैं, जिनका स्मरण मात्र रोमाँचित कर देने वाला है। इस जिनशासन सागर में ऐसे रत्नों की कोई कमी नहीं है। ऐसी चरित्र आत्माओं से हमें प्रेरणा लेनी चाहिये।

शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि जो अंतिम समय तक जिनवचनों में अनुरक्ति रखते हैं और भावपूर्वक जिनवचनों पर आचरण करते हैं, वे निर्मल और रागादि से असंक्लिष्ट होकर परित्त संसारी होते हैं-

जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेन्ति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा ते होन्ति परित्त संसारी।।

(उत्तराध्ययनसूत्र 36/260)

व्रत-नियम आदि का पालन निर्मलता से हो, इसके लिए प्रतिक्रमण सशक्त साधन है। जीवन व्यवहार में जो भी मलिनता, संक्लिष्टता आदि प्रवेश पा जाती हैं, उन्हें प्रतिक्रमण द्वारा परिमार्जित किया जा सकता है। जिससे जीवन पर से विकार दूर होकर निजी रौनक प्राप्त हो जाती है। इसलिए प्रत्येक भव्य आत्मा को भाव प्रतिक्रमण का लक्ष्य रखना चाहिये।

14.09.2000

❖ ❖ ❖

12. अतिक्रमण, आक्रमण और प्रतिक्रमण

भली आत्मा परमात्मा की प्रार्थना स्वयं को परमात्म भाव में उपस्थित करने हेतु किया करती है। प्रार्थना के बोल, प्रार्थना के स्वर किसी भी रूप में हो सकते हैं, किन्तु वही प्रार्थना श्रेष्ठ है, वही श्रेष्ठ मानी भी जाती है, जिसमें किसी भी प्रकार की याचना नहीं हो। प्रार्थना हो, परन्तु याचना नहीं हो, यही महत्त्वपूर्ण बात है। प्रार्थना स्वयं के स्वरूप का जागरण करने के लिए की जाती है। प्रार्थना का केन्द्रीय भाव होता है- हे प्रभु, तुमने जो अपना आत्म-स्वरुप निखारा है, वह स्वरुप किस तरीके से, किस विधि से निखारा है, वह विधि मैं भी अपनाऊं, वह विधि मेरे भी जीवन में उतर आये और उसी विधि का सहारा लेकर मैं भी अपने अन्तर भाव को, अन्तर मन को, अन्तर-राम को जागृत कर सकूं । यही भाव प्रार्थना के लिए उत्कृष्ट माना गया है।

जघन्य भाव में भी प्रार्थना की जाती है, उसमें व्यक्ति आर्त्तभावों में प्रार्थना करता है। जैसे- हे भगवन्, मुझे कुछ प्राप्त हो जाए, मेरी पोजीशन यथावत् बनी रह जाए, मेरे भण्डार भरे रहें, मैं युद्ध में विजय प्राप्त कर सकूं, परिवार में मेरी फतह हो जाए, सभी जगह यश कायम रहे और मेरा किसी भी रूप में पराभव नहीं हो। इस प्रकार की कामना जिस प्रार्थना में हो वह जघन्य भाव की प्रार्थना कही गयी है। इस प्रकार के भाव जिस प्रार्थना में समाहित हों, वह प्रार्थना जघन्य प्रार्थना कहलाएगी। ऐसे सारे भाव हमारे आर्त्तभाव हैं। लाभ मिलने या नहीं मिलने के पीछे यदि हमारे ऐसे भाव जुड़ते हैं तो वे भाव आर्त्त भाव के अन्तर्गत आते हैं।

परमात्मा की प्रार्थना करने के लिए आत्मा के शौर्य को जागृत करना होता है। जब तक हमारे भीतर का शौर्य प्रगट नहीं हो जाता है, तब तक सच्चे मायने में हम परमात्मा की प्रार्थना नहीं कर सकते, परमात्मा

आप एकाग्र दृष्टि से उसे देखते रहें तो वह चम्मच या वस्तु टूट सकती है, टेढ़ी हो सकती है, मुड़ सकती है, आप उसे चाहे जो रूप दे सकते हैं। यह क्षमता एकाग्र दृष्टि या एकाग्र भाव से प्राप्त हो सकती है और संसार में लोग इसे सिद्ध करके दिखा चुके हैं। दशवैकालिक सूत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि धर्म में एकावधानता बनी रहती है तो देवता भी नमस्कार करने की स्थिति में आते हैं।

महासती सरदारकंवरजी ने 62 दिनों का संथारा, महासती बलिकंवरजी ने 72 दिनों का संथारा और गुलाबकंवरजी ने 82 दिनों का संथारा कैसे पूर्ण किया ? कोई सोच भी नहीं सकता कि इतने दिन निकाले जा सकते हैं। साथ वाली सतियों ने कह भी दिया कि यदि मन में कुछ भी उतार-चढ़ाव की स्थिति हो तो पारणा कर लो, तो वीरतापूर्वक उन्होंने कहा- खबरदार, मेरे सामने आहार की कोई बात करने की आवश्यकता नहीं है, मैंने संथारा ले रखा है। इस प्रकार की सजगता और अंतिम क्षणों तक सजगता, यह कोई सामान्य बात नहीं है। ऐसे अनेक रत्न और अनेक मणियाँ प्रभु महावीर के इस शासन में हुई हैं, जिनका स्मरण मात्र रोमाँचित कर देने वाला है। इस जिनशासन सागर में ऐसे रत्नों की कोई कमी नहीं है। ऐसी चरित्र आत्माओं से हमें प्रेरणा लेनी चाहिये।

शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि जो अंतिम समय तक जिनवचनों में अनुरक्ति रखते हैं और भावपूर्वक जिनवचनों पर आचरण करते हैं, वे निर्मल और रागादि से असंक्लिष्ट होकर परित्त संसारी होते हैं-

जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेन्ति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा ते होन्ति परित्त संसारी॥

(उत्तराध्ययनसूत्र 36/260)

व्रत-नियम आदि का पालन निर्मलता से हो, इसके लिए प्रतिक्रमण सशक्त साधन है। जीवन व्यवहार में जो भी मलिनता, संक्लिष्टता आदि प्रवेश पा जाती हैं, उन्हें प्रतिक्रमण द्वारा परिमार्जित किया जा सकता है। जिससे जीवन पर से विकार दूर होकर निजी रौनक प्राप्त हो जाती है। इसलिए प्रत्येक भव्य आत्मा को भाव प्रतिक्रमण का लक्ष्य रखना चाहिये।

14.09.2000

❖ ❖ ❖

12. अतिक्रमण, आक्रमण और प्रतिक्रमण

भली आत्मा परमात्मा की प्रार्थना स्वयं को परमात्म भाव में उपस्थित करने हेतु किया करती है। प्रार्थना के बोल, प्रार्थना के स्वर किसी भी रूप में हो सकते हैं, किन्तु वही प्रार्थना श्रेष्ठ है, वही श्रेष्ठ मानी भी जाती है, जिसमें किसी भी प्रकार की याचना नहीं हो। प्रार्थना हो, परन्तु याचना नहीं हो, यही महत्त्वपूर्ण बात है। प्रार्थना स्वयं के स्वरूप का जागरण करने के लिए की जाती है। प्रार्थना का केन्द्रीय भाव होता है- हे प्रभु, तुमने जो अपना आत्म-स्वरुप निखारा है, वह स्वरुप किस तरीके से, किस विधि से निखारा है, वह विधि मैं भी अपनाऊं, वह विधि मेरे भी जीवन में उतर आये और उसी विधि का सहारा लेकर मैं भी अपने अन्तर भाव को, अन्तर मन को, अन्तर-राम को जागृत कर सकूं । यही भाव प्रार्थना के लिए उत्कृष्ट माना गया है।

जघन्य भाव में भी प्रार्थना की जाती है, उसमें व्यक्ति आर्त्तभावों में प्रार्थना करता है। जैसे- हे भगवन्, मुझे कुछ प्राप्त हो जाए, मेरी पोजीशन यथावत् बनी रह जाए, मेरे भण्डार भरे रहें, मैं युद्ध में विजय प्राप्त कर सकूं, परिवार में मेरी फतह हो जाए, सभी जगह यश कायम रहे और मेरा किसी भी रूप में पराभव नहीं हो। इस प्रकार की कामना जिस प्रार्थना में हो वह जघन्य भाव की प्रार्थना कही गयी है। इस प्रकार के भाव जिस प्रार्थना में समाहित हों, वह प्रार्थना जघन्य प्रार्थना कहलाएगी। ऐसे सारे भाव हमारे आर्त्तभाव हैं। लाभ मिलने या नहीं मिलने के पीछे यदि हमारे ऐसे भाव जुड़ते हैं तो वे भाव आर्त्त भाव के अन्तर्गत आते हैं।

परमात्मा की प्रार्थना करने के लिए आत्मा के शौर्य को जागृत करना होता है। जब तक हमारे भीतर का शौर्य प्रगट नहीं हो जाता है, तब तक सच्चे मायने में हम परमात्मा की प्रार्थना नहीं कर सकते, परमात्मा

की भक्ति और उपासना तो बहुत आगे की बात है। पहले परमात्मा की प्रार्थना, परन्तु उसके लिए भी अपने अन्तर की शक्ति को, अपने अन्तर के शौर्य को प्रगट करना होता है। और अन्तर का शौर्य प्रगट करने के संबंध में जब प्रभु महावीर से पूछा गया- भगवन्, ऐसी कौनसी विद्या है, जिसके माध्यम से हमारा अन्तर का शौर्य प्रकट हो सकता है, जो वर्तमान में बाहर के आवरणों से आच्छादित हो चुका है ? तब प्रभु महावीर ने कहा- प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए। जब प्रतिक्रमण किया जाता है तो जो कुछ अतिक्रमण है वह सारा का सारा समाप्त हो जाता है।

आज यदि व्यक्ति तनावग्रस्त रहता है तो इसका कारण है। कारण अनेक और अनेक प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु यदि हम तनाव से दूर रहना चाहते हैं तो तीर्थंकर देवों की जो देशना है, तीर्थंकर देवों ने जो हमें दिशाबोध दिया है, उसके अनुरूप हमें अपने-आप को ढालना होगा। हमें इस दिशा में प्रयास करने होंगे।

कारणों को समझने के लिये विचार करें। एक व्यक्ति अपना मकान बनाने की तैयारी करता है किन्तु मकान बनाते समय वह अपने पड़ौसी की, जिससे उसके मधुर संबंध रहे हैं, पाँच-दस फुट जमीन दबोच लेता है। मकान बन जाता है। जब पड़ौसी को, चाहे वह सगा भाई ही हो, यह ज्ञात होगा कि मेरी जमीन पर उसने कब्जा कर लिया है, तब आप जानते हैं कि क्या स्थिति बनेगी ? पड़ौसी चाहे उसका भाई ही हो, किन्तु वह इसको बर्दाश्त नहीं कर पाएगा। वह कहेगा- आप यह कब्जा खाली कर दीजिए। यदि वह नहीं मानेगा तो कोर्ट तक जाने की स्थिति बन जायेगी और यह तनाव का कारण बनेगा। यदि वह पहले अतिक्रमण नहीं करता तो क्या तनाव की स्थिति बनती ? उसने पहले अतिक्रमण किया तो तनाव उसने अपने-आप मोल ले लिया। यदि वह सोचता- नहीं, मेरी दो अंगुल जमीन खाली रह जाए तो कोई बात नहीं, लेकिन मैं किसी की एक इंच जगह पर भी अनाधिकार कब्जा नहीं करूँगा और किसी की जमीन को हड़पने की चेष्टा नहीं करूँगा, तो क्या इस प्रकार के भाव होते ? तो निश्चित है कि तनाव की स्थिति नहीं बनती।

एक व्यक्ति सड़क पर अतिक्रमण करता है और उधर सूचना जारी हो जाती है कि अमुक तारीख से पहले-पहले सड़क पर तुमने जो कब्जा किया है, उस अनाधिकृत कब्जे को खाली कर दो। यदि उस स्थान को अमुक तारीख तक खाली नहीं किया, तो उसके पश्चात् कोई भी कार्यवाही हो सकती है, जिसकी जिम्मेदारी सरकार की नहीं होगी। उसके बाद यदि अमुक तारीख तक कब्जा खाली नहीं होता है और सरकार उसके पश्चात् यदि उसकी चाहे दुकान हो चाहे कुछ भी है, उसका सारा सामान उठाकर फिकवा देती है, रोलर फिरवा देती है तो मन में दुख-दर्द तो नहीं होगा ? होगा। क्या सरकार ने यह दु:ख दिया ? क्या किसी दूसरे व्यक्ति ने यह दु:ख दिया ? सामने वाले ने तो आपको चेता दिया था और अवसर भी दे दिया था, किन्तु उसके वावजूद भी उस व्यक्ति ने अपना अतिक्रमण नहीं हटाया तो उस पर आक्रमण हुआ। व्यक्ति यदि स्वत: ही अपने अतिक्रमणों को प्रतिक्रमणों के रूप में परिवर्तित कर देता तो उस पर आक्रमण नहीं होता। आज व्यक्ति आक्रमण से तो बचना चाहते हैं, किन्तु यह नहीं सोचते कि आक्रमण होते ही क्यों हैं ? कोई किसी पर यदि आक्रमण करता है तो उसके पीछे कारण होते हैं। हमने यदि अतिक्रमण किया है तो निश्चित है कि आज नहीं तो कल हमारे ऊपर आक्रमण होगा। जब तक हमारी पुनवानी है या कह दो कि किसी का ध्यान नहीं गया है तब तक तो अतिक्रमणों को पनपा सकते हैं, किन्तु जिस दिन भी उधर दृष्टिपात हो गया, उधर दृष्टि चली गयी, तो कभी भी हम पर आक्रमण हो सकता है। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह पहले से ही अपने-आप अतिक्रमण करने से बचे और यदि वह अतिक्रमण का प्रतिक्रमण कर लेता है, अतिक्रमण हटा लेता है तो यह प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण भी दो प्रकार के बतलाये गये हैं। एक द्रव्य प्रतिक्रमण और दूसरा भाव प्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण में हम पाटियों का उच्चारण करते हैं, उठ-बैठकर या जो कुछ भी विधि-विधान हैं, उनके अनुसार अर्थात् विधि-विधानपूर्वक क्रिया करते हैं उसे द्रव्य प्रतिक्रमण कहा गया है। भाव प्रतिक्रमण भिन्न है। उन पाटियों का उच्चारण करते हुए अन्तर में यह भाव बने कि मेरे जो भी दोष लगे हैं, मेरे गृहीत व्रतों में किसी

भी प्रकार की स्खलना हुई है तो उसका मैं स्मरण करूँ और उस स्खलना को दूर करने का प्रयत्न करूँ, तो वह भाव प्रतिक्रमण होता है। भाव की अपार महिमा है। द्रव्य की भी महिमा है। किन्तु भाव की जो महिमा है उसकी बराबरी तो कोई कर ही नहीं सकता है। यहाँ तक बतला दिया गया है कि उभयकाल भाव प्रतिक्रमण करने वाला कर्मों को क्रोड़ खपावे उत्कृष्ट रसायन आए तो तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करे। आप कितनी बार प्रतिक्रमण करते हैं ? एक बार। उभयकाल नहीं करते हैं। सोचते हैं कि अभी जल्दी नहीं है। संसार देखना है। अभी कह दें कि परिवार का मोह छोड़ दो तो क्या करेंगे ? अभी पता नहीं है, परन्तु बाद में पछताएंगे। महाराज ने बहुत पहले सावधान किया था, बड़ी चेतावनी भी दी थी कि प्रतिक्रमण कर लो। सरकार जैसे चेतावनी देती है न, वैसे ही महाराज ने तो चेतावनी दी थी कि प्रतिक्रमण कर लो, परिग्रह से मुक्त हो जाओ, किन्तु हम उन चेतावनियों की कितनी चिन्ता करते हैं ? चेतावनियाँ मिलती रहती हैं, किन्तु उसके बावजूद भी हमारा आरम्भ-परिग्रह में बढ़ावा होता रहता है। क्या आरम्भ-परिग्रह से हम अपने-आप को पीछे हटाने का प्रयत्न करते हैं ? किससे क्या पूछें ? सबकी भावनाएँ यही रहती हैं कि हमारे पास जितनी सम्पत्ति है, उस सम्पत्ति में और वृद्धि हो। हम क्या चाहते हैं- धर्म ध्यान बढे या घटे ? चाहते तो यही हैं कि धर्म यदि घट जाए तो घट जाये, किन्तु धन बढ़ जाए तो आनन्द हो जाए। किन्तु यदि थोड़ा धन घट जाए और धर्म बढ़ जाए तो वह सहन है क्या ? भले सामने कह दो कि सहन है, किन्तु अन्तर में यह नहीं है कि मेरा धर्म बढ़ना चाहिए। धन घटे तो कोई बात नहीं, किन्तु धर्म बढ़ना चाहिए, धर्म घटना नहीं चाहिए। परन्तु ऐसा भाव बहुत कम व्यक्तियों का मिलेगा। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि दुनिया में सभी धन को महत्त्व देते हैं। ऐसे श्रावक भी हुए हैं, जिन्होंने धर्म को महत्त्व दिया है। वे कहते हैं धन जाए तो जाए, किन्तु मेरा धर्म नहीं जाए। हरिश्चन्द्र राजा को आप इसीलिये याद करते हैं क्योंकि उन्होंने कह दिया था-

"तन जाए तो जाए मेरा सत्य धर्म नहीं जाये,
तन जाए तो जाए मेरा सत्य धर्म नहीं जाये।"

तन भले ही चला जाए, किन्तु मेरा सत्य-धर्म नहीं जाना चाहिए। सेठ सुदर्शन कहता है कि चाहे मेरा शरीर चला जाए, किन्तु मेरा धर्म नहीं जाना चाहिए, भले ही इसके लिए मुझे शूली पर चढ़ा दिया जाये। शूली पर चढ़ने में भी खुशी, उसमें भी रोना-धोना नहीं। राजा के सामने यह नहीं कहा कि मुझे बचा लीजिए।

किन्तु आज सत्य, धर्म की पालना के लिए क्या इतनी तत्परता होती है ? यदि कोई गलत कागजात पकड़ में आ जाते हैं तो क्या वहाँ हिम्मत होती है कि अपनी गलती को स्वीकार कर लिया जाए ? तब तो उन गलत कागजों को वापस निकलवाने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करते हैं। बातें चालू हो जाती हैं। दलालों को ढूंढते हैं। यदि दलाल मिल जाए तो लाखों रुपये उन कागजों को बचाने के लिए खर्च कर देते हैं। विचार कीजिये कि वे लाखों रुपये कहाँ गये ? सरकार को उनमें से एक पैसा भी नहीं मिला। तुम्हारे घर में भी नहीं रहे। वे रुपये कहाँ गये ? क्या यही सत्य धर्म है ? क्या यही धर्म की पालना है ? तब हिम्मत रखो। या तो गलत कार्यवाही करो मत या सरकार जो भी टैक्स लेती है, ईमानदारी से भरो। किन्तु इतना साहस बन नहीं पाता। इसलिए आये दिन अधिकारियों के आक्रमण के भय से व्यक्ति संत्रस्त रहता है। यदि बाजार में कोई अधिकारी निकल जाए तो कई व्यापारियों के मन में कैसे-कैसे संशय पैदा हो जाते हैं, कैसी-कैसी दुश्चिन्ताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, कहने की आवश्यकता नहीं है।

धर्म से आत्मबल मजबूत होता है, दृढ़ता आती है और व्यक्ति अनैतिक कार्यों से अपने-आप को बचाने का प्रयत्न करता है। मैं भाव की बात बतला रहा था। श्रावकों की ऐसी भावनाएँ रहनी चाहिये कि चाहे धन की स्थिति कुछ भी बने, किन्तु हमारा धर्म सुरक्षित रहे। यदि धर्म सुरक्षित है तो पीछे सारी अवस्थाएँ अपने-आप सुधर जाती हैं।

पूज्य गुरुदेव फरमाया करते थे- धर्म करंता धन बढ़े, धन बढंता मन बढ़े, मन बढ़ंता मनसा बढ़े, बढ़त-बढत बढ़ जाय। धर्म घटंता धन घटे, धन घटंता मन घटे, मन घटतां मनसा घटे, घटत-घटत घट जाय। किन्तु लोग उल्टा सोचते हैं कि हमारा धर्म बढ़े या नहीं बढ़े, धन बढ़ना

चाहिए। तुमने यदि धर्म को बढ़ाया तो वह अपने पीछे, पुनवानी लिये चला आता है। किन्तु धर्म के प्रति लोग समर्पित होना नहीं चाहते हैं और धन को माथे पर लेकर चलना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में वे कैसे आनन्द की प्राप्ति कर पाएँगे ?

धर्म की पालना के या धर्म बढ़ाने के अनेक रास्ते हैं। दैनिक जीवन और व्यवहार में इस प्रकार की बढ़ोतरी कैसे होती है या धर्म की पालना का क्या रूप बनता है, इसे कतिपय उदाहरणों द्वारा समझें।

एक सेठ के तीन पुत्र थे। संयोग से तीनों पुत्रों की मृत्यु हो गयी। घर में रह गई तीन विधवा पुत्रवधुएँ। वे तीनों कहने लगी कि घर की मालकिन में बनने वाली हूँ। पहली का प्रतिकार करते हुए दूसरी ने कहा कि तू कैसे बनेगी ? पहली ने कहा- मैं घर में सबसे बड़ी हूँ इसलिए मेरा अधिकार होता है। मंझली बहू ने कहा- रहने दो, पीहर से दहेज मैं सबसे ज्यादा धन लेकर मैं आयी हूँ इसलिए हक मेरा बनता है। तीसरी ने भी अपनी बात कही। सेठ ने विचार किया कि मेरी वृद्धावस्था है इसलिए मुझे अपनी उपस्थिति में ही सबकुछ निबटा देना चाहिए। उसने अपने मित्र से सलाह ली। आज के सेठ वकीलों से सलाह लेते हैं कि क्या करना चाहिए। सेठ ने अपने मित्र के सामने सारी परिस्थिति स्पष्ट की। मित्र ने कहा कि पहले परीक्षा कर लो कि वस्तुतः तुम्हारे घर की सम्पत्ति को कौनसी बहू अच्छी तरह सुरक्षित रख सकती है, उसके बाद ही आगे विचार करना। सेठ ने पूछा- कैसे करूँ परीक्षा? मित्र ने कहा कि सबसे यह प्रश्न पूछना कि सबसे अधिक दूर तक क्या जा सकता है ? इसके बाद सेठ को उसने सारी बात समझा दी। सेठ ने उन पुत्रवधुओं से कहा- "रोज-रोज का क्लेश अच्छा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि घर की व्यवस्था कर दूं। बन्द मुट्ठी लाख की होती है, एक साथ रहना बहुत अच्छी बात है, परन्तु एक साथ रहने की स्थिति में किसी एक को ही घर के मुखिया के रूप में स्थापित कर पाऊंगा। तीनों में से किसी एक को, जो मेरे प्रश्न का सही उत्तर देगी, उसी को मैं घर की मालकिन बना दूंगा।" तीनों के कान खड़े हो गये। उन्होंने पूछा- 'प्रश्न क्या है ?' सेठ ने कहा- बतलाओ सबसे अधिक दूरी तक क्या जा सकता है ?

आप जानते हैं कि मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना। पहली बहू ने कहा कि इसमें ज्यादा सोचने की क्या बात है, मुर्गे की आवाज सबसे अधिक दूर तक जाती है। मुर्गे की आवाज शांत समय में होती है इसलिए बहुत दूर तक जा सकती है। दूसरी बहू ने कहा कि यह भी कोई बात हुई ? कुत्ते के भौंकने की आवाज ही सबसे दूर तक जाती है। तब सेठ ने तीसरी बहू की ओर अपनी दृष्टि डाली। तीसरी बहू ने हाथ जोड़कर विनम्र भाव से कहा- पिताश्री, मैं समझती हूँ कि मधुर व्यवहार ही बहुत दूर तक जाता है। विचार कीजिये कि मधुर व्यवहार दूर तक जाता है कि नहीं जाता है ? यदि आपने किसी के साथ मधुर व्यवहार किया है तो वह चाहे हजारों किलोमीटर दूर चला जाये, किन्तु फिर भी वह उस व्यवहार को याद रखता है। वह उसे भूलता ही नहीं है, किन्तु मधुर व्यवहार का रूप कैसा हो, यह भी समझ लीजिये।

एक सेठ की धर्मपत्नी का स्वर्गवास हो गया। छोटे बच्चे थे। मित्रों ने कहा कि भाई, दूसरी शादी कर लो। उसने कहा कि भाई, ऐसी बात मत करो। सौतेली माँ के लिए तो लोग कहते हैं कि स्वप्न में भी प्राप्त न हो। मैं अपने बच्चों का भविष्य अंधकारपूर्ण नहीं करना चाहता। यह घटना यथार्थ है। रूपक के रूप में नहीं है, गुजरात की है। अस्तु, बहुत कहने के बाद उस सेठ ने दूसरी शादी कर ली। सेठ का नाम था लालचन्द भाई। उन्होंने दूसरी शादी कर ली । दूसरी शादी करने के बाद कुछ दिन बीते, महीने, दो महीने बीते, तब धर्मपत्नी ने कहा- पतिदेव, इतना बड़ा घर है, बच्चे तो दो-तीन हैं, किन्तु आपकी इतनी बड़ी पेड़ी है। पेड़ी में व्यापारी भी आते होंगे। किन्तु अभी तक कोई व्यापारी घर में नहीं आया। सेठ ने पूछा- व्यापारी का घर में आने का मतलब ? पत्नी ने कहा- पतिदेव, वह घर भी घर है क्या जिसमें अतिथियों का आना न हो ? जिसमें हर रोज दो-चार मेहमान न आते हों, वह भी क्या कोई घर है ? यथार्थ में वह अच्छे गृहस्थ का घर नहीं है। गृहस्थ का घर तो वही श्रेष्ठ माना गया है, जिसके यहाँ आये दिन दो-चार मेहमान पहुँचते रहते हों। जिसके द्वार पर छठे-छमास भी कोई मेहमान नहीं आये तो वह भी कोई गृहस्थ का घर है ? सेठ ने कहा- 'तुम क्या बोल रही हो। मेरे तो

व्यापारी मित्र बहुत हैं और यदि मैं उनको घर में लाने लगा तो तुम्हें फिर कभी भी फुर्सत नहीं मिलेगी। रोज मेरे तो कोई-न-कोई व्यापारी आता रहता है। मैं तुम्हें झंझट में नहीं डालना चाहता इसलिए मैं सारे व्यापारियों को होटलों में ही निपटा देता हूँ, घर में नहीं लाता हूँ। सेठानी ने कहा- नहीं-नहीं पतिदेव, ऐसी क्या बात है, आप किसी भी व्यापारी को, किसी भी स्वधर्मी को होटल में नहीं निपटाओ। सभी व्यापारी, सभी मेरे स्वधर्मी भाई घर में आने चाहिए। मुझसे जैसा बनेगा, मैं उनकी खातिरदारी करूँगी। सेठ मान गया और व्यापारी घर पर आने लगे। सेठानी भी सही तरीके से उनका स्वागत-सत्कार करती। उनके भोजन की, आवास की, सभी की सुंदर व्यवस्था करती। व्यापारी भी बहुत संतुष्ट होते। यह खबर जब बाहर फैली तब दूसरे व्यापारी भी आकर्षित होने लगे और थोड़े ही दिनों में सेठ का व्यापार चौगुना फैलने लगा। कहावत है- आगम बुद्धि बाणियो। बनिये की बुद्धि पहली बुद्धि है, वह बहुत आगे की भांप लेता है। इस सेठ का व्यापार खूब बढ़ गया।

एक बार व्यापारियों ने कहा- सेठ साहब, आपके यहाँ हम तो आते हैं, हमारे यहाँ कभी आप भी पधारो। सेठ ने उगाही का बहाना बनाया और अपनी धर्मपत्नी से कहा कि मेरे बाहर जाने की सारी व्यवस्था कर देना, सूटकैस वगैरह तैयार कर देना। क्या-क्या सामान रखना, देख लेना। सेठानी ने कपड़े-लत्ते, टॉर्च, लोटा वगैरह जो कुछ भी आवश्यक लगा, सब रख दिया, पर सेठ ने कहा- देखो, मेरे लिए टिफिन भी रख देना क्योंकि हो सकता है कि दो-तीन दिन मुझे लग जाये, चार दिन भी लग सकते हैं। सेठानी ने कहा कि आप फिक्र मत कीजिये, सब-कुछ मैंने तैयारी कर दी है, सारा सामान रख दिया है। सेठ ने देखा कि टिफिन नहीं है, पूछा कि तुमने और तो सब तैयारी कर दी, किन्तु टिफिन नहीं रखा। सेठानी ने कहा कि मैंने टिफिन आगे भेज दिया है। सेठजी चले गये। उनको वहाँ काम में लगभग एक सप्ताह का समय लग गया। एक सप्ताह के बाद जब वे वापस लौटे, तब उनको ध्यान आया कि अरे, टिफिन को तो मैंने काम में ही नहीं लिया, मेरी धर्मपत्नी ने कहा भी कि मैंने टिफिन भेज दिया है, किन्तु किसी भी ऑफिस में किसी ने मुझसे कहा ही नहीं कि टिफिन आया हुआ है। वह घर पहुँचा और उसने कहा कि तुमने

टिफिन कहाँ भेजा था ? मैं तो जिन-जिन ऑफिसों में गया, कहीं पर भी किसी ने नहीं कहा कि टिफिन आया हुआ है और तुमने कहा था कि टिफिन भेज दिया है। उसका सामान कहीं पड़ा-पड़ा खराब न हो जाये। सेठानी मुस्कुराते हुए कहने लगी- यदि आपने टिफिन को खोला ही नहीं, काम में ही नहीं लिया तो क्या आप सात दिन तक भूखे रहे, क्या भोजन नहीं किया? सेठ ने कहा कि नहीं, ऐसी बात नहीं है। भोजन की तो मेरे साथ ऐसी घटना घटी कि एक-एक टाइम भी दो-दो, चार-चार व्यापारी आग्रह करते थे। एक कहता था कि मेरे यहाँ भोजन करना पड़ेगा, दूसरा कहता था कि मेरे यहाँ भोजन करना पड़ेगा। एक कहता था कि मेरे यहाँ नाश्ता करना पड़ेगा, दूसरा कहता था-मेरे घर नाश्ता करना पड़ेगा। तब सेठानी ने मुस्कुराकर पूछा कि फिर आपको टिफिन की आवश्यकता क्यों पड़ गई ? सेठ ने उत्तर दिया- मुझे तो आवश्यकता नहीं पड़ी। मुझे तो टिफिन याद भी यहाँ आने के वाद आया है। तुमने कहा था कि मैंने टिफिन भरकर भेजा है। सेठानी ने कहा- मैंने रोटियाँ वनाकर नहीं भेजी थी। किसी टिफिन के डिव्वे में पैक करके रोटियाँ नहीं भेजी थी। मैंने ऐसा टिफिन तैयार किया था कि आप कभी भी जाओ, आपको वे बासी रोटियाँ साथ ले जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। जो मेहमान मेरे घर पर आया और जो मेरे घर पर भोजन करके गया है, उसके घर आप कभी भी जाओगे तो वह आपको टिफिन की रोटियाँ नहीं खाने देंगे और यदि टिफिन साथ में भी ले जाओगे, तो वह बंद ही रह जायेगा। इसलिए मैंने कहा था कि टिफिन आगे भेज दिया है।

बंधुओं ! यह है मधुर व्यवहार और ऐसा होता है मधुर व्यवहार का परिणाम। अन्यथा एक पत्नी तो सेठ की पहले भी थी, परन्तु उसकी प्रकृति बिल्कुल उल्टी थी। उसे अतिथियों के आने से चिढ़ होती थी और इसीलिये सेठ पहले होटल-रेस्ट्रां तक ही अतिथि सत्कार सीमित रखता था। ऐसा ही व्यवहार उसके साथ भी अन्य व्यापारी करते थे, इसलिये उसे टिफिन लेकर जाना पड़ता था। परन्तु अब स्थिति बदल गई थी। यह होती है भावना की बात। ऐसा ही भाव-प्रतिक्रमण के बारे में भी समझिये। भाव-प्रतिक्रमण से अंतर निर्मल होता है, धर्म की सुरक्षा होती है और प्रभु के प्रति समर्पणा की स्थिति बनती है।

इस प्रकार से भाव-प्रतिक्रमण करके जब अंतर को शुद्ध बना लिया जाता है, तब फिर हमारा व्यवहार मधुर हो जाता है, अन्यथा हमारे भीतर तो बहुत कड़वास भरी हुई है जो हमारे व्यवहार में प्रकट होती रहती है।

परमात्मा की प्रार्थना की बात मैंने प्रारंभ में कही थी और बाद में यह भी बताया था कि परमात्मा की भक्ति और उपासना की बात बहुत आगे की है, पहले सम्यक् प्रार्थना की बात आती है, जिसके लिये अपने अंतर की उस शक्ति, अंतर के उस शौर्य को प्रकट करना होता है जो बाहर के आवरणों से आच्छादित हो चुका है। इसी संदर्भ में प्रभु महावीर ने प्रतिक्रमण की बात कही है, जो आक्रमण को हटाने की सबसे सशक्त एवं प्रभावी विधि है। आज तनावग्रस्त हो जाने की जो स्थिति सामान्यतः सभी के जीवन में बन जाती है, उससे मुक्त रहने की भी यही विधि है और इस सबका उद्‌गम होता है निर्मल भावों से। निर्मल भावों से भाव-प्रतिक्रमण करके जब अंतर शुद्ध हो जाता है तब व्यक्ति के चिन्तन और व्यवहार में आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। उसके अंतर की शुद्धता उसके व्यवहार की मधुरता में प्रकट होने लगती है। शुद्ध अंतर वाला मनुष्य अतिक्रमण नहीं करता। आप अतिक्रमण का अर्थ भौतिक अतिक्रमण से न लें, एक भाव-अतिक्रमण भी होता है। दुर्भावना भले ही कार्य के माध्यम से प्रकट न हो, परन्तु वह व्यवहार में प्रकट हो जाती है और जैसे अतिक्रमण आक्रमण को निमंत्रण देता है वैसे ही दुर्भावना भी दुर्व्यवहार को निमंत्रण देती है। इस प्रकार दोनों ओर तनाव की स्थितियाँ निर्मित हो जाती हैं। यह तनाव अशांति, असुरक्षा बैर को आमंत्रित कर लेता है। जब परिस्थितियाँ इस रूप में फलित होती हैं तब समाज का सारा ढांचा दूषित हो जाता है और सहज, शांत, और प्रेमपूर्ण संबंधों की स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं। हम इन्हीं स्थितियों से बचना चाहते हैं और इनसे रक्षा के लिये प्रभु से प्रार्थना करते है। परन्तु हमारी प्रार्थना सार्थक तभी होती है जब हमारी बुद्धि निर्मल हो, भावना शुद्ध हो और हम धर्म के मार्ग पर चल रहे हों।

15.09.2000

❖ ❖ ❖

महावीर ने कहा है कि गलती मानव से होती है और संसार में रहते छद्मस्थ प्राणी दुष्कर्म कर सकता है। संसार में रहते इस प्रकार मानव-जाति को तोड़ते गये तो इस बिखराव का कभी अंत आना नहीं है ! तब आये दिन बिखराव होगा, टुकड़े होंगे। इसलिए तीर्थंकर देवों ने कायोत्सर्ग की बात कही कि जो कुछ भी विपरीत प्रवृत्ति या त्रुटि हो गई है, उसके प्रायश्चित्त या शुद्धि हेतु कायोत्सर्ग करना चाहिये। भगवान से पूछा गया-

'काउस्सगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?'
कायोत्सर्ग से किस फल की प्राप्ति होती है, तो भगवान ने कहा-
काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पण्णं पायच्छित्तं विसोहेइ।
विसुद्ध पायच्छित्ते य जीवे णिव्वुयहियए ओहरिय-
भरूव्व भारवाहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ।

अर्थात् प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का विशोधन होता है ! बात बड़ी अटपटी लगेगी क्योंकि स्वयं प्रायश्चित्त हमारी आत्मा का विशोधन करने वाला है। जब प्रायश्चित्त ही आत्मा की विशुद्धि करने वाला है, व्रत में लगे अतिचार का शोधन करने वाला है तो कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त की विशुद्धि हो ? यह तो अन्योन्याश्रित दोष होगा कि पहले व्यक्ति प्रायश्चित्त व्रतों की शुद्धि करेगा, फिर उसे शुद्ध करने के लिए कायोत्सर्ग की आवश्यकता होगी, फिर कायोत्सर्ग की शुद्धि के लिए और कोई विकल्प लाना होगा या होना चाहिए। पर बात ऐसी नहीं है। जो हमारे व्रत-नियम हैं, उनकी आलोचना प्रतिक्रमण हुआ, उससे जो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, उस प्रायश्चित्त को पूरा करना, उसे वहन करना यह कायोत्सर्ग के माध्यम से होता है। आप प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने वाले पाँचवें आवश्यक में कायोत्सर्ग करते हैं। वह किसलिए करते हैं ? पाँचवें आवश्यक की आज्ञा लेते हुए उच्चारण करते हैं-

''इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणणुणाए समाणे
देवसिय पायच्छित्त विसोहिणत्थं करेमि काउसग्गं।''

हे भगवन् आपकी अनुज्ञा होने पर दिवस सम्बन्धी जो अतिचार लगे हैं, उन अतिचारों की विशुद्धि के लिए मैं कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ। बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि हमारे अतिचारों की विशुद्धि कायोत्सर्ग से

कैसे होगी ? किंतु होती है। वर्तमान में 4 लोगस्स का काउसग्ग किया जाता है। किंतु कायोत्सर्ग का दूसरा रूप काया का उत्सर्ग है, काया को निश्चेष्ट करना है, वचन को निश्चेष्ट करना एवं मन को भी विश्रांति देना है। कायोत्सर्ग मन-वचन को मौन कराने वाला होता है। एक काया का उत्सर्ग, मन पर, वचन पर प्रभाव डालता है। काया का उत्सर्ग करने से मन, जो उधर-उधर कुलांचें भर रहा होता है, उसे वह शांत करने वाला होता है। चूंकि मन चंचल होता है, क्षण में कहाँ, क्षण में कहाँ होता है, इसीलिये उसके लिए भी कायोत्सर्ग महत्त्वपूर्ण है। यदि मन की चंचल अवस्था रही तो वह कायोत्सर्ग पूर्णतया हमारे भीतर घटित नहीं हो सकता । कायोत्सर्ग की पूर्णता है कि मन भी उत्सर्ग की अवस्था में आये। सरेण्डर कर दे। वाणी भी मुखरित न हो। ऐसा कायोत्सर्ग पाप-कर्म की विशुद्धि करने वाला होता है। यदि उस समय हम तटस्थ भाव में या एक प्रकार से दृष्टाभाव में आ जाते हैं, राग-द्वेष से स्वयं को ऊपर उठाये हुए होते हैं, तो वह अवस्था आत्मा की मुक्ति के लिए भी महत्त्वपूर्ण बनती है।

एक सेठ प्रतिदिन संत उपासना में पहुँचने का प्रयत्न करता, संतों की वाणी सुनता, प्रमुदित होता। घर पहुँचता तो जो सुना होता, घर में उसकी चर्चा करता कि आज अमुक बात सुनी है, अमुक विषय पर आज महत्त्वपूर्ण विवेचना हुई, अनेक प्रकार से समझाया गया। इस प्रकार की चर्चा घर के सदस्यों के बीच करता। आज के कई भाई संत-वाणी की चर्चा करते होंगे, पर कई भाई अधिक ग्रहण नहीं कर पाते हैं और वहीं झटका दें तो याद कैसे रख पाएँगे ? याद भी रहे तो एक-दो बातें याद रह सकती हैं कि कथा कौनसी कही थी। पर हमें केवल कथा के कलेवर को न पकड़कर कथा के अंदर क्या भाव रहे हुए हैं, उस ओर लक्ष्य रखना चाहिए। वे सेठजी चर्चाएँ करते कि आज आत्मा के विषय में सुना है।

एक बार वे घर से जाने की तैयारी करने लगे तो घर के पालित तोते ने कहा- आप संत दर्शन को जा रहे हैं, मेरी एक जिज्ञासा है, मौका मिले तो उसका समाधान लाना है। सेठ ने पूछा- क्या जिज्ञासा है ? उसने कहा- "महाराज से पूछना मुक्ति का उपाय क्या है ?" सभी को चाहिये

महावीर ने कहा है कि गलती मानव से होती है और संसार में रहते छद्मस्थ प्राणी दुष्कर्म कर सकता है। संसार में रहते इस प्रकार मानव-जाति को तोड़ते गये तो इस बिखराव का कभी अंत आना नहीं है ! तब आये दिन बिखराव होगा, टुकड़े होंगे। इसलिए तीर्थंकर देवों ने कायोत्सर्ग की बात कही कि जो कुछ भी विपरीत प्रवृत्ति या त्रुटि हो गई है, उसके प्रायश्चित्त या शुद्धि हेतु कायोत्सर्ग करना चाहिये। भगवान से पूछा गया-

'काउस्सगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?'
कायोत्सर्ग से किस फल की प्राप्ति होती है, तो भगवान ने कहा-
काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पण्णं पायच्छित्तं विसोहेइ।
विसुद्ध पायच्छित्ते य जीवे णिव्वुयहियए ओहरिय-
भरूव्व भारवाहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ।

अर्थात् प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का विशोधन होता है ! बात बड़ी अटपटी लगेगी क्योंकि स्वयं प्रायश्चित्त हमारी आत्मा का विशोधन करने वाला है। जब प्रायश्चित्त ही आत्मा की विशुद्धि करने वाला है, व्रत में लगे अतिचार का शोधन करने वाला है तो कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त की विशुद्धि हो ? यह तो अन्योन्याश्रित दोष होगा कि पहले व्यक्ति प्रायश्चित्त व्रतों की शुद्धि करेगा, फिर उसे शुद्ध करने के लिए कायोत्सर्ग की आवश्यकता होगी, फिर कायोत्सर्ग की शुद्धि के लिए और कोई विकल्प लाना होगा या होना चाहिए। पर बात ऐसी नहीं है। जो हमारे व्रत-नियम हैं, उनकी आलोचना प्रतिक्रमण हुआ, उससे जो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, उस प्रायश्चित्त को पूरा करना, उसे वहन करना यह कायोत्सर्ग के माध्यम से होता है। आप प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने वाले पाँचवें आवश्यक में कायोत्सर्ग करते हैं। वह किसलिए करते हैं ? पाँचवें आवश्यक की आज्ञा लेते हुए उच्चारण करते हैं-

''इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुणाए समाणे
देवसिय पायच्छित्त विसोहिणत्थं करेमि काउसग्गं।''

हे भगवन् आपकी अनुज्ञा होने पर दिवस सम्बन्धी जो अतिचार लगे हैं, उन अतिचारों की विशुद्धि के लिए मैं कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ। बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि हमारे अतिचारों की विशुद्धि कायोत्सर्ग से

कैसे होगी ? किंतु होती है। वर्तमान में 4 लोगस्स का काउसग्ग किया जाता है। किंतु कायोत्सर्ग का दूसरा रूप काया का उत्सर्ग है, काया को निश्चेष्ट करना है, वचन को निश्चेष्ट करना एवं मन को भी विश्रांति देना है। कायोत्सर्ग मन-वचन को मौन कराने वाला होता है। एक काया का उत्सर्ग, मन पर, वचन पर प्रभाव डालता है। काया का उत्सर्ग करने से मन, जो उधर-उधर कुलांचें भर रहा होता है, उसे वह शांत करने वाला होता है। चूंकि मन चंचल होता है, क्षण में कहाँ, क्षण में कहाँ होता है, इसीलिये उसके लिए भी कायोत्सर्ग महत्त्वपूर्ण है। यदि मन की चंचल अवस्था रही तो वह कायोत्सर्ग पूर्णतया हमारे भीतर घटित नहीं हो सकता । कायोत्सर्ग की पूर्णता है कि मन भी उत्सर्ग की अवस्था में आये। सरेण्डर कर दे। वाणी भी मुखरित न हो। ऐसा कायोत्सर्ग पाप-कर्म की विशुद्धि करने वाला होता है। यदि उस समय हम तटस्थ भाव में या एक प्रकार से दृष्टाभाव में आ जाते हैं, राग-द्वेष से स्वयं को ऊपर उठाये हुए होते हैं, तो वह अवस्था आत्मा की मुक्ति के लिए भी महत्त्वपूर्ण बनती है।

एक सेठ प्रतिदिन संत उपासना में पहुँचने का प्रयत्न करता, संतों की वाणी सुनता, प्रमुदित होता। घर पहुँचता तो जो सुना होता, घर में उसकी चर्चा करता कि आज अमुक बात सुनी है, अमुक विषय पर आज महत्त्वपूर्ण विवेचना हुई, अनेक प्रकार से समझाया गया। इस प्रकार की चर्चा घर के सदस्यों के बीच करता। आज के कई भाई संत-वाणी की चर्चा करते होंगे, पर कई भाई अधिक ग्रहण नहीं कर पाते हैं और वहीं झटका दें तो याद कैसे रख पाएँगे ? याद भी रहे तो एक-दो बातें याद रह सकती हैं कि कथा कौनसी कही थी। पर हमें केवल कथा के कलेवर को न पकड़कर कथा के अंदर क्या भाव रहे हुए हैं, उस ओर लक्ष्य रखना चाहिए। वे सेठजी चर्चाएँ करते कि आज आत्मा के विषय में सुना है।

एक वार वे घर से जाने की तैयारी करने लगे तो घर के पालित तोते ने कहा- आप संत दर्शन को जा रहे हैं, मेरी एक जिज्ञासा है, मौका मिले तो उसका समाधान लाना है। सेठ ने पूछा- क्या जिज्ञासा है ? उसने कहा- ''महाराज से पूछना मुक्ति का उपाय क्या है ?'' सभी को चाहिये

मुक्ति का उपाय। मुक्ति के लिए ही तो हम साधना कर रहे हैं, हम धर्मस्थान में जो आते हैं तो उसके पीछे भी भाव यही है कि पता चले कि हमारी मुक्ति कैसे हो। सिद्ध स्वरूप को कैसे वरें, निज स्वभाव में कैसे आयें।

मुक्ति क्या है ? कभी हम सोच लेते हैं कि सिद्ध-स्वरूप मुक्ति का रूप है, पर यथार्थ में जो हमारे अध्यवसाय रागात्मक-द्वेषात्मक हैं, कषायों से अनुरक्त हैं, उन अनुराग से अनुरंजित, राग-द्वेष अनुरंजित अध्यवसायों से मुक्त होना ही मुक्ति का रूप है।

कषाय मुक्ति मिल मुक्ति रैव।

यथार्थ में हमने जो कुछ भी अर्जित कर रखा है, यदि उसे अलग कर दें, जो संग्रह किया है उसे छोड़ दें तो जो बच जाता है, वही मुक्ति का रूप है और वही निज स्वभाव है। अपने स्वरूप को प्राप्त करना ही मुक्ति का रूप है क्योंकि अभी तक हम राग-द्वेषमय अध्यवसाय के आधार पर बंधनों से बंधे हुए हैं। उनसे मुक्त होना ही मुक्ति है !

तोते का प्रश्न लेकर सेठ महाराज के चरणों में पहुँचे। व्याख्यान पूर्ण हुआ। व्यक्ति दर्शन कर निकल गये। सेठ उपस्थित हुआ- गुरुदेव ! मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। एक जिज्ञासा का समाधान लेना है। मेरे पालित तोते ने समाधान माँगा है। वह जानना चाहता है कि मुक्ति का उपाय क्या है ? संत पाटे से उठे, अंदर गये, सेठ भी पीछे-पीछे अंदर चला गया। सेठ ने सोचा। शायद अंदर पहुँचकर उत्तर देंगे। अंदर पहुँचे तो देखा, संत दूसरे पाटे पर लेट गये, जैसे निद्रा की अवस्था में हों। थोड़ी देर लेटे रहे ! सेठ विचार कर रहा था कि व्याख्यान करते हुए शायद थकान आ गई थी, इसलिए विश्राम कर रहे हैं। हो सकता है प्रश्न का उत्तर विश्राम करके दें। थोड़ी देर में संत पुनः बैठ गये। सेठ हाथ जोड़कर खड़ा था- गुरुदेव! जिज्ञासा का समाधान ? संत ने कहा- समाधान दे तो दिया मैंने। सेठ ने कहा- आपने दे दिया, पर मैं कुछ समझा नहीं ! गुरुदेव ने कहा- कोई बात नहीं। तुम नहीं समझे हो तो कोई बात नहीं। जो मैंने समाधान दिया है वह तुम तोते को बता सकते हो। वह समाधान से सन्तुष्ट

हो सकता है। सेठजी उलझन में पड़ गये कि क्या बताऊँगा ? फिर विचार किया- जो हुआ उसी का बयान कर दूंगा। तोते के पूछने पर सेठजी कहने लगे- मैंने कहा जरूर, पर जवाब नहीं दिया, प्रत्युत व्याख्यान से उठकर चले गये, जाकर सो गये और नींद आयी हो वैसे शरीर को शिथिल किया, फिर उठकर बैठ गये। मैंने निवेदन किया तो कहा- दे दिया। मैंने कहा- मैं समझा नहीं तो कहा, मैंने जो समाधान दिया है, वही तोते को बोल देना। इसके अलावा और कोई समाधान नहीं दिया। सेठजी अपने कार्य में लग गये। रात बीती।

दूसरे दिन पिंजरा खोला। देखा- तोता निश्चेष्ट पड़ा था। जिधर हिलाओ, हिल जाता था, न आँखें खोल रहा था, न पंख हिला रहा था। लगता था जैसे दम तोड़ दिया हो। सेठजी ने तोते को बाहर निकालकर एक तरफ रख दिया और पिंजरा खाली कर दिया। इतने में तोता उड़ा और मुंडेर पर जाकर बैठ गया। सेठजी ने देखा और विचार में पड़ गये। मैंने तो मरा हुआ समझकर फेंका और यह तो मुंडेर पर जा बैठा ! तोते ने कहा- सेठजी, महाराज का उत्तर आप नहीं समझे, पर मैंने उस उत्तर को प्राप्त कर लिया है। संत ने यह बताया है कि मुक्ति का उपाय है- कायोत्सर्ग, शरीर का शिथिलीकरण, उसमें इतने तल्लीन हो जाइये कि बाहर दुनिया में क्या हो रहा है, उससे पूर्णतः अनभिज्ञ हो जायें। दुनिया की हलचल में नहीं रहें।

गजसुकुमाल कायोत्सर्ग में लीन हैं, अंगारे सिर पर धधक रहे हैं, पर वे उन्हें ताप नहीं दे पा रहे हैं। उनके ताप से वे कष्ट का अनुभव नहीं कर रहे हैं। वे ताप-संताप नहीं दे पा रहे हैं क्योंकि वे कायोत्सर्ग में हैं और ऐसा नहीं हैं कि वह घटित न हो। जिस क्षण हम काया का उत्सर्ग कर स्वयं को आत्मा में केन्द्रित कर चुके होते हैं, जब शरीर को छोड़ आत्मभाव में तल्लीन होते हैं, वही क्षण कायोत्सर्ग का होता है, वही क्षण उससे पूर्व के प्रायश्चित्त का विशोधन करने का सुन्दर स्वरूप होता है। तोता कहता है- "महाराज ने मुख से उत्तर नहीं दिया, किन्तु क्रिया करके उत्तर दे दिया कि मुक्ति चाहते हो तो शरीर को निश्चेष्ट बना दो। मैंने यही उपाय किया तो पिंजरे से मुक्त हो गया। आप भी इस क्रिया को अपनायें

तो शरीर रूपी पिंजरे से मुक्त हो जाओगे !'' इससे विपरीत, जब तक शरीर रूपी पिंजरे में आनन्द मनाएंगे तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होगी, आत्मभाव प्राप्त नहीं होगा। कोई भी पशु-पक्षी पिंजरे में आनन्द नहीं मनाता। उसे स्वर्ण पिंजरे में भी बंद कर दो तो भी वह आनंद मानता है क्या ? चिड़ियाघर में पिंजरे में सिंह को बन्द करके रख दिया जाता है। उस पिंजरे में जंगल का सम्राट आनंद नहीं मानता। वहाँ उसे कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती। समय पर खाना आ जाता है। उसकी सेवा-सुश्रूषा सब कुछ होती है, उसके बावजूद वह उस आनंद की अनुभूति नहीं कर पाता जो आनंद उसे जंगल में स्वतंत्र विचरण करने में प्राप्त होता है। वैसे ही जो पक्षी खुले आकाश में विचरण करते हुए आनंद मानते हैं उन्हें सोने के पिंजरे में बंद कर दें या उनकी चोंच और पंख स्वर्ण से मढ दें तो भी उन्हें आनन्द नहीं मिलेगा।

जटायु रावण के प्रहार से मूर्च्छित हो गया था। राम उधर से आये जटायु को देख, उसे गोद में उठा लिया। उससे पूछा गया तो उसने जनकनंदिनी सीता के सम्बन्ध में जानकारी दी। उसके आधार पर राम जटायु से कहने लगे- ''बोल जटायु, तूने जो महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है उसके बदले क्या पुरस्कार दूँ ? तू कहे तो दूसरे पंख लगा दूँ। पंख सोने के बनवा दूँ।'' जटायु को क्या सोने के पंख चाहिये थे ? आज का व्यक्ति होता तो माँग लेता- मेरा घर सोने से भर दो, पर क्या घर सोने से भरने से सुख-संतोष मिल जाता है ?

एक सम्राट स्वर्णप्रेमी था। चाहता था कि घर स्वर्ण से भर जाये। एक बार कुलदेवी की आराधना की, तो वह प्रसन्न हो गई। उसने सम्राट से कहा- क्या चाहते हो ? सम्राट ने कहा- माँ, क्या सचमुच दोगी ! कुलदेवी ने कहा- हाँ, जो चाहोगे, वह मिलेगा। सम्राट ने कहा- मुझे वरदान चाहिये कि जिस वस्तु के मैं हाथ लगाऊँ, वह सोने की हो जाये। देवी ने कहा- ''तथास्तु।''

सुबह उठा पलंग सोने के, कपाट सोने के। उसने जिन-जिन वस्तुओं को छुआ, वे सब सोने की हो गई। राजकुमारी पास आई, सम्राट

ने प्रेम से माथे पर हाथ रखा। लड़की सोने की बन गई। नौकर खाने का सामान लाया, जैसे ही खाने के लिए हाथ लगाया, सारे पदार्थ सोने के बन गये। सम्राट सोचने लगा- यह कैसा वरदान ? सारी चीजें सोने की बन गई। चाहे लड्डू हो या कचोरी, सोने की बनने के बाद क्या वे खाई जा सकती हैं ? सोने से घर भर जाये, ऐसा सोच दुःखदायी हो सकता है, पर ऐसा हो जाने पर व्यक्ति उस स्वर्ण का मालिक नहीं बन उसका चौकीदार ही बन सकता हैं। क्योंकि स्वर्ण पा लेने से ही इच्छाएँ शांत नहीं हो जातीं। उसके कारण तो इच्छाएँ-कामनाएँ और बढ़ जाती हैं, जिससे अंतर की भूख कभी समाप्त नहीं हो पाती। सम्राट के तो पेट की भूख भी समाप्त नहीं हो पाई। इसलिए बंधुओं ! स्वर्ण के टुकड़े के पीछे दौड़ना नहीं है। जटायु ने कहा- "नहीं-नहीं मुझे स्वर्ण के पंख नहीं चाहिये ! यदि पंख स्वर्ण के हो जाएंगे तो बहेलिये मेरी जान लेने को तत्पर हो जाएंगे। इसलिए न स्वर्ण का पंख चाहिए, न ही पुराने पंख। मुझे तो आपकी यह गोद चाहिए। यहीं मृत्यु प्राप्त हो, इससे बढ़कर सौभाग्य और कौनसा होगा ? मुझे आपकी एकमात्र शरण चाहिये।" देखिये, कैसी भावना है ! उधर वह सम्राट था जिसने स्वर्ण के लोभ में मुसीबत मोल ले ली। इधर एक पक्षी था जिसने स्वर्णमय बनने से इनकार कर दिया था। मनुष्य को स्वर्ण का लाभ जग जाता है। उससे वह मानवता को भी भूल जाता है। पशु-पक्षी स्वर्ण में आनंद नहीं मानते हैं। आज का मानव भले आनंद मानता हो पर पक्षी तो खुले गगन में मुक्त विचरण करने में ही प्रसन्न होते हैं। वैसे ही हमें मुक्ति चाहिये तो तीर्थंकर देव कहते हैं- कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग कर लिया तो पूर्व-पाप का विशोधन कर आत्मभाव को प्राप्त हो जाओगे और शुक्ल अध्यवसायों से आत्मा को शुभ्र बना पाओगे।

कायोत्सर्ग को तीर्थंकर प्रभु महावीर ने अपनी देशना में मुक्ति का उपाय भी बतलाया है क्योंकि कायोत्सर्ग पापों के प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करता है। उससे आत्मा निर्मल हो जाती है। कायोत्सर्ग के क्षणों में अनिर्वचनीय अनुभूति होती है। हमारे अंतर का सारा का सारा वातावरण परिवर्तित हो जाता है, न राग नजर आता है, न द्वेष और न ही ईर्ष्या की

चिनगारी। शांत-प्रशान्त अवस्था बनी रहती है। एक क्षण की शांत-प्रशांत अवस्था हमारे पाप की निवृत्ति करने वाली बनती है। तब थोड़े समय के लिए आप आत्मा में उपस्थित होते हैं और काया के प्रति ममत्व समाप्त होता है। उस स्थिति में दुनिया के सब पदार्थों के प्रति ममत्व समाप्त हो सकता है ! सबसे बड़ा ममत्व तो शरीर के प्रति ही होता है।

अकबर ने बीरबल से पूछा कि तुम सबसे बढ़कर मेरे प्रति समर्पण की बात कह रहे हो, पर मेरी दाढ़ी में यदि आग लगे और ठीक उसी समय तुम्हारी दाढ़ी में भी आग लगे जाये तो सबसे पहले किसकी दाढ़ी की आग बुझाओगे ? बीरबल ने कहा- हुजूर, पहला हाथ तो अपनी दाढ़ी पर ही जायेगा। फिर दूसरा हाथ आपकी दाढ़ी की तरफ बढेगा। घर में पुत्र और पत्नी बीमार हैं और आप भी बीमार हैं तो सबसे पहले आपका अपनी बीमारी का इलाज कराने का लक्ष्य बनेगा। जितना ममत्व पुत्र या पत्नी पर नहीं, उतना ममत्व अपने शरीर पर होता है। कायोत्सर्ग से शरीर के ममत्व पर कुठाराघात होता है। शरीर के प्रति ममत्व समाप्त हो गया तो फिर मुक्ति दूर नहीं है। वह सहज ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए आवश्यक है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ है काया का उत्सर्ग, काया का त्याग। भावात्मक रूप से यदि विचार करें, अच्छूढशरीरी बनना भी कायोत्सर्ग ही है। अच्छूढशरीरी का अर्थ होता है शरीर के प्रति अममत्व। शरीर के प्रति कोई राग नहीं, कोई ममत्व नहीं, कोई लगाव नहीं। यह अवस्था निरन्तर आत्मभाव में रमण कराने वाली बन जाती है। ऐसे साधक के लिए मुक्ति आसान ही नहीं, अत्यन्त समीप होती है। इसलिए यदि मुक्ति का आनन्द लेना है तो कायोत्सर्ग में जीना सीखें। दूसरे शब्दों में मुक्त होने का उपाय है कायोत्सर्ग।

16.09.2000

❖ ❖ ❖

14. अहंकार की आहुति

तीर्थंकर देवों को तीन भुवन का स्वामी बतलाया गया है। तीन भुवन से तात्पर्य है- अधोलोक, तिरछालोक और ऊर्ध्वलोक। ये तीन लोक भी कहलाते हैं और तीन भुवन भी इन्हें ही कह देते हैं। तीर्थंकर देव इनके स्वामी होते हैं। पर विचार यह करना है कि वह स्वामित्व उन्हें कैसे प्राप्त होता है ? कब होता है ?

प्रत्येक व्यक्ति स्वामित्व चाहता है। वह चाहता है कि उसका पूरा परिवार उसके अधीन चले। समाज में चलने वाला व्यक्ति यह भाव रखकर चलता है कि समाज में वह जो बात कह दे वह स्वीकार कर ली जाये। देश के नेता भी चाहते हैं कि जैसा वे चाहें वैसा सारा कार्य होता चला जाये; उनके इशारे पर पूरा देश चले। नहीं चल पाता, यह बात अलग है, पर चाह और भावना तो मुख्य रूप से यही रहती है। भले कोई अपने परिवार पर भी स्वामित्व न रख पा रहा हो, किन्तु उसकी चाह और भावना तो रहती है कि पूरे समाज, पूरे राष्ट्र का वह नेता बने। तीर्थंकर देव तीन लोक के स्वामी बने हैं, किन्तु बनने के लिए उन्हें बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है। तीन लोक का स्वामी कोई ऐसे ही नहीं बन जाता है।

कुछ लोगों में चर्चाओं का प्रसंग चल रहा था और समाज की वर्तमान स्थिति पर व्यंग्य करते हुए एक भाई ने कहा था कि वर्तमान में सामाजिक परिदृश्य व समाज के पटल पर काम विशेष-कुछ होते नहीं हैं। इसलिए अब तो चुनाव नहीं होने चाहिये। जो बढ़े सो पावे। जो बोली में आगे बढ़े, वह उस पद पर बैठे। उसी को अधिकारी बनाया जाये। क्योंकि काम तो वैसे भी होता नहीं है। आप जानते हैं कि समाज में प्रस्ताव तो बहुत पारित होते हैं, पर अमली रूप बहुत कम को प्राप्त हो पाता है। ऊँची बोली लगाने वाले से संघ को सम्पति तो मिलेगी और जिसे कुर्सी

ग्रहण करनी होगी, बोली लगाएगा। जो अधिक लगाएगा वह प्राप्त कर पाएगा।

ये बातें भले विनोद की हों, पर विनोद की होते हुए भी वड़े मर्म की हैं और हमें सोचना पड़ेगा कि ये बातें क्यों उठ रही हैं, इनके पीछे कारण क्या हैं ? यदि इस पर चिन्तन नहीं किया जायेगा और यही मापदण्ड समाज के महत्त्वपूर्ण पदों के लिए भी बने रहेंगे तो वड़ी विचित्र परिस्थिति सामने आ सकती है।

मैंने जो बात कही कि तीर्थंकर देव तीन लोक के स्वामी होते हैं, उसके साथ यह भी कहा कि तीन लोक के स्वामी बनने के लिए उन्हें बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है, तीन लोक का स्वामी कोई ऐसे ही नहीं बन जाता है। बोलो, क्या कीमत चुकाते हैं तीर्थंकर तीन लोक का स्वामी बनने के लिये ?

तीन लोक का स्वामी बनने के लिए अपने अहंकार का विसर्जन करना पड़ता है, राग भावों को समाप्त करना पड़ता है, यह मेरा है, यह तेरा है, ये सारे भाव भी छोड़ने पड़ते हैं, पैसे छोड़ने मामूली बात है, पैसे से कीमत चुकाना बड़ी बात नहीं है। किन्तु अपने अहंकार को छोड़ देना, इससे बढ़कर कोई कीमत नहीं है। अहंकार, ईर्ष्या का त्याग, राग-भाव का त्याग सरल काम नहीं है। क्योंकि राग-भाव से सब के प्रति अपनत्व के भाव बनते हैं। अहं के कारण सोचता है कि मेरे से बढ़कर दूसरा नहीं है। यदि कोई बढ़कर नजर आये तो मन में विचार बनेंगे कि यह आगे कैसे बढ़ रहा है ? ऐसे में, यद्यपि उसमें कोई दुर्गुण नहीं है, फिर भी दुर्गुण ढूंढेंगे। इसे असूया भाव कहा गया है। ये तीन दुर्गुण रहेंगे तो तीन लोक का स्वामी नहीं बन सकते। परन्तु इन तीन दुर्गुणों का त्याग कठिन है, यह सम्पत्ति हमने अर्जित कर रखी है और लम्बे समय से यह हमारे साथ है, पर सोच लो, जब तक इस इकट्ठी की हुई सम्पत्ति को सिर पर चढ़ाकर रखा है तब तक तीन लोक के स्वामी नहीं बन पाओगे। जब तक इस संपति को सीने से चिपका कर चलोगे तो अहंकार को कैसे छोड़ दोगे। क्योंकि फिर समाज में कौन कदर करेगा ? मेरा भी अपना स्वाभिमान है - ऐसे भाव बने रहेंगे तो स्वामित्व की पात्रता नहीं बनेगी।

स्वाभिमान किसे कहते हैं ? किसी भी खूंटे को पकड़ लिया कि यह तो मेरा है, यह है स्वाभिमान। पहले 'स्व' को तो जानो। स्व को जानोगे तो फिर अभिमान रहेगा कि गल जाएगा ? गल जायेगा। पर लोग शब्दों को पकड़ लेते हैं। कोई बताये कि स्वाभिमान होता क्या है ? जहाँ व्यक्ति 'स्व' में स्थित होता है वहाँ अभिमान छूट जाता है। भगवान महावीर ने क्या कभी विचार किया कि मेरा स्वामित्व रहना चाहिये ? माता-पिता ने गुरुकुल में भरती किया, यद्यपि जन्म से तीन ज्ञान - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान उन्हें प्राप्त थे, तथापि उन्होंने कोई संकोच या विरोध नहीं किया। अवधिज्ञान से व्यक्ति पर्दे के पीछे या दीवार की आड़ में क्या घटित हो रहा है, यह जान लेता है। हालांकि आज भी दीवार के पीछे, पर्दे के पीछे क्या घटित होता है उसे व्यक्ति अनुभव कर लेता है। एक ज्ञान अनुभव से या अनुमान से होता है, एक प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष अर्थात् यथार्थ में जान लेता है। राजनीति में पर्दे के पीछे होने वाले षड्यंत्र की जानकारी, जैसे कुत्ता सूंघकर चोर का पता बता देता है वैसे ही खुफिया विभाग षड्यंत्र गंध के आधार पर पता लगा लेता है। पर्दे के पीछे पलने वाली ऐसी अवस्था का बोध या जानकारी इस प्रकार प्राप्त कर लेना कठिन नहीं है किन्तु वह केवल अनुमान के आधार पर होती है, किन्तु अवधिज्ञान के साथ ऐसा नहीं है। वह उसी प्रकार प्रत्यक्ष होता है जैसे हाथ की रेखाएँ या हाथ में रखा पदार्थ प्रत्यक्ष होता है। जिस व्यक्ति को जितने दूर का अवधिज्ञान हो, वह उतनी दूर तक के रूपी पदार्थों को जान सकता है। आज भी ऐसे लोग हैं। पूर्वकाल की बात करें तो महाभारत-काल में माना गया है कि संजय धृतराष्ट्र को महाभारत की घटना इस प्रकार सुना रहे थे जैसे आप टी.वी. पर कोई कार्यक्रम देखते हैं। आप तो पर्दे पर देखते हो, किन्तु माना गया है कि संजय की दृष्टि ऐसी थी, जिससे लगता था कि धृतराष्ट्र के पास बैठकर भी वे वहाँ की घटनाएँ देख रहे हों और रिले कर रहे हों। आप कहेंगे, ऐसा कैसे हो सकता है ? पर यदि हमारी प्रज्ञा निर्मल हो तो ये सारी बातें संभव हैं !

बंधुओ ! तीन लोक के स्वामी बनने के लिए अहंकार, राग, असूया-इन तीन की आहुति देनी पड़ती है। तीनों को जब छोड़ते हैं, यह कीमत जब चुकाई जाती है तब तीन लोक का स्वामी बना जा सकता है।

भगवान महावीर से प्रश्न किया गया कि ''थवथुईमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ?'' स्तव-स्तुति करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? भगवान ने कहा- थवथुइमंगलेणं नाणदंसण चरित्तवोहिलाभं जणयइ। णाणदंसणचरित्तवोहिलाभसंपण्णे य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविभाणोववत्तिमं आराहणं आराहेइ। अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की बोधि को प्राप्त करता है और ज्ञान- दर्शन-चारित्र की बोधि प्राप्त करने वाला अंतक्रिया करने वाला होता है। कितनी महत्त्वपूर्ण बात बताई है। मूल में बात को देखना है - स्तव-स्तुति भी कब होती है ? जब तक अहं की भावना, ईर्ष्या की भावना भरी है तब तक स्तुति हो नहीं पाएगी। शब्दों का उच्चारण तो हो जायेगा पर यथार्थ स्तुति नहीं हो पायेगी। कर ही नहीं पाएँगे ! णमोत्थुणं शक्रस्तव है। शक्रेन्द्र के द्वारा तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। स्तुति किसी भी भाषा में हो सकती है और अपने तौर-तरीके से उसकी रचना भी की जा सकती है ! स्तव की रचना हर व्यक्ति का क्षेत्र नहीं है। हर व्यक्ति का सामर्थ्य भी नहीं है, किन्तु स्तुति कोई भी कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति कल्याण करना चाहता है, पर स्तव की क्षमता यदि नहीं है तो क्या वह कल्याण नहीं करे? वह स्तुति कर सकता है। जब तक गुणी के गुण के प्रति अनुराग नहीं जगेगा तब तक स्तुति हो नहीं पाएगी। जब हमारा मन गुणीजनों के गुण से स्निग्ध हो जायेगा या उनके गुणों की महक हमारे हृदय में प्रीति पैदा करेगी तब स्तुति के बोल प्रस्फुटित होंगे। आप कहते हो भक्तामर स्तोत्र आचार्य मानतुंग रचित है। कब रचा, क्या घटना घटी ? मान्यता ऐसी है कि अन्य-अन्य मत के लोग चमत्कार-पिपासु थे। क्या जैनियों के पास चमत्कार नहीं हैं ? है तो बहुत, पर वे दिखाते नहीं हैं। वे जादूगर या बाजीगर नहीं हैं। वे साधक हैं और साधनाशील व्यक्ति चमत्कार दिखाने में अहमियत नहीं समझता है। वह चमत्कारों में विश्वास भी नहीं करता है। बाजीगर, जिसे रोजी रोटी चाहिये वह बंदरी को लेकर, डुगडुगी वजाकर अपनी कला दिखाता है और पैसे इकट्ठे करता है, किन्तु जैन मुनि ऐसे चमत्कार या जादू या हाथ की सफाई को महत्त्व नहीं देते। उनका जीवन साधनामय होता है वे साधना में विश्वास करते हैं और साधना के फलस्वरूप चमत्कार भी घटित हो जाते हैं, पर उनके प्रति उनका रुझान नहीं होता।

अभी अक्षयमुनिजी सुना रहे थे कि उस महिला की बीमारी सुकरात के चरण पकड़ने से ठीक हो गई और वे स्पष्ट कर गये कि सुकरात के चरण स्पर्श करने से लाभ मिला, आचार्य श्री नानेश की माँगलिक तो बहुतों ने सुनी, पर उस वृद्ध महिला के साथ, जिसे दिखता नहीं था, चमत्कार ही हो गया।

मेरे सामने की बात है। उस परिवार के लोग सांप्रदायिक विद्वेष के कारण दर्शन नहीं कर पा रहे थे। धर्मस्थान में पैर रख नहीं पा रहे थे। संवत्सरी के दूसरे दिन गुरुदेव कई जगह दर्शन देने पधारे तो उसके पोते ने कहा- मेरी दादी को दर्शन दे दो। आचार्यदेव पधारे, प्रतिज्ञा करवाई जब तक खाट से उठकर काम करने की स्थिति नहीं है तब तक पुत्रवधू पथ्य-परहेज दे, उसका आगार, बाकी का त्याग। मंगलपाठ सुना दिया। उनका पुत्र एक दिन में 125/150 बीड़ी पी लेता था, एक-दो नहीं। गिनीज बुक में नाम लिखाना है तो बंडल के बंडल फूंकलो। और कुछ नहीं कर सको तो यह करके ही नाम लिखा लो। उसे भी प्रेरणा देने का प्रसंग बना। उस व्यक्ति ने, जो 125/150 बीड़ी पीता था, उसी दिन तत्काल त्याग ले लिया। हिम्मत की बात है या नहीं ? इधर गुरुदेव वापस पधार गये, उधर वह वृद्धा बोली- ये लोटा बीच में क्यों रखा ? परिवारजनों ने सोचा, कहीं सन्निपात तो नहीं हो गया ? घर के सदस्यों ने पूछा- दिखता है क्या ? उत्तर मिला- हाँ दिखे क्यों नहीं। और अनेक प्रयोग किये गये। दूसरे दिन मैं भी धोवन लेने गया तो बच्चों ने कहा- दादी, महाराज आये हैं। मैंने कहा- क्यों तकलीफ देते हो ? उत्तर मिला- नहीं-नहीं महाराज! गुरुदेव ने माँगलिक दी, तभी से वे देखने लग गई हैं। मैंने भी पूछा- ये कितनी अंगुलियाँ हैं ? उन्होंने कहा- महाराज थे भी कांई मजाक करो हो। मैंने सोचा, जानकारी तो कर लूं। माँगलिक तो बहुतों ने सुनी, पर उनके साथ तो चमत्कार हो गया। वैसे ही व्रतों को तो बहुत स्वीकार करते हैं, पर किसी-किसी को विशेष लाभ हो जाता है। पर उसकी चाह नहीं जुड़नी चाहिए ! वैसे ही जब तक गुणी के गुण को हृदय में स्थापित नहीं किया जाये तब तक स्तुति नहीं होगी। शब्दों की जोड़ तो बहुत लोग करते हैं पर शब्दों की जोड़ स्तुति नहीं है।

आचार्य मानतुंग को 52 कोठरियों में 52 सांकलों में बांध दिया गया था, पर वे अपनी मस्ती में थे और प्रभु ऋषभदेव की स्तुति में इतने तल्लीन हुए, उनके गुणों से इतने आप्लावित हुए कि उस आप्लावित हृदय से स्वतः प्रस्फुटन हुआ। सूखी धरती में बीज अंकुरित नहीं होता है, परन्तु उस काली मिट्‌टी रूप भूमि में यदि बीज पड़ा है और वहाँ सही पानी का सिंचन कर दो तो बीज प्रस्फुटित हो जायेगा। सही पानी इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि यदि लवण समुद्र का पानी सींच दो तो अंकुर नहीं फूट सकता। खेती करने के लिए खारा नहीं, मीठा पानी चाहिये। जब मीठे पानी से बीज अंकुरित हो सकता है तो हमारे मीठे शब्दों से दूसरे के हृदय प्रफुल्लित क्यों नहीं होंगे? आचार्य मानतुंग के भावों को श्रद्धा का सिंचन प्राप्त हुआ तो मुँह से स्वतः ही प्रस्फुटन होने लगा-

भक्तामर-प्रणत-मौलिमणि प्रभाणा।
मुद्योतकं दलित-पाप-तमो वितानम्.....।

एक नहीं, एक के बाद दूसरा, तीसरा। न तो कागज लेकर बैठने की आवश्यकता पड़ी, न कलम लेकर बैठने की कि कोई छंद टूट न जाये। अंदर से जो निकल गया वह स्तोत्र बन गया। ये है कविता का प्रस्फुटन। आज तो कागज लेकर बैठेंगे, लाइन नहीं बनी, तो सोचेंगें अब कौनसा फिट करें ? यह कार्य तो स्वर्णकार, मोती पिरोने वालों का है कि कौनसा मोती कहाँ फिट करें, किन्तु काव्य में इस कला की आवश्यकता नहीं। हृदय का प्रस्फुटन। आवश्यक होता है। गुणी के प्रति प्रस्फुटन होता है तो वहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की बोधि से आत्मतृप्ति प्राप्त होती है। भीतर ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रकटित-मुखरित होता है !

बंधुओ ! बात बड़ी सामान्य है स्तुति करना, किन्तु स्तुति करते समय महत्त्व मन अथवा अंतर की उस अवस्था का होता है, जिससे स्तुति की जाती है, क्योंकि स्तुति द्रव्य मंगलरूप नहीं, अपितु भाव मंगल रूप होती है। इस प्रकार अंतर की अवस्था ही महत्त्वपूर्ण है। भ. महावीर ने जो देशना दी है, यदि वह जीवन का अंग नहीं बने, अंतर को आप्लावित नहीं करे तो उससे आनन्द नहीं आएगा, न उसका लाभ ही मिल पायेगा ! आप जानते हो, बंजर भूमि को कितना भी सींचें, बीज अंकुरित नहीं हो सकता। इसलिए अपनी भूमि को

टटोलें, वह बंजर तो नहीं हैं ? यदि है, तो उसे सुधारने का उपाय भी है। सत्संग और धर्माराधना के केमिकल्स से उसे उपजाऊ बनाया जा सकता है।

अतः एक बात भली प्रकार समझ लेने की है- कोरे शब्द और कोरी भंगिमाएँ स्तुति का न लक्षण हैं, न स्तुति की आत्मा। इसलिये दिखावे का कोई फल मिल ही नहीं सकता। जब बात अंतर की ईमानदारी अथवा भावना की सच्चाई की आती है तब तुरन्त श्रद्धा-भाव की महिमा प्रकट हो जाती है। बिना श्रद्धा के क्या भावों में निर्मलता आ सकती है ? श्रद्धा से विश्वास उत्पन्न होता है जो सफलता की ओर ले जाता है। कहा भी गया है कि श्रद्धावान् को ज्ञान मिलता है और विश्वास का फल मिलता है। महाभारत के एकलव्य के आख्यान से आप सभी परिचित होंगे। गुरु द्रोणाचार्य ने उसे धनुर्विद्या सिखाने से मना कर दिया था, परन्तु उसकी गुरु पर श्रद्धा थी और उनकी भक्ति के फल में विश्वास था। इसलिये अभ्यास करके भी वह अर्जुन के समकक्ष धनुर्धर बन गया। आज का मनोविज्ञान भी इस बात को पुष्ट करता है कि मन की भावनाओं का ही फल होता है और यदि विश्वास पक्का होता है तो अनुकूल फल की प्राप्ति अवश्य होती है भले ही परिस्थितियाँ कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हों, यदि श्रद्धा और विश्वास दृढ़ नहीं होता है तो परिस्थितियाँ भले ही कितनी ही अनुकूल हों, अभीप्सित फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

राज्य पृथ्वी का हो, स्वर्ग का हो, या तीनों लोकों का हो, मनःस्थिति का स्वरूप ही उसे उपभोग्य बनाता है। राजा और रंक की स्थितियाँ भी मन की स्थिति पर निर्भर हैं। आप नीति का यह दोहा जानते होंगे-

चाह मिटी चिन्ता गई, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, ते शाहन के शाह॥

इसके विपरीत जिसको और अधिक, और अधिक....की चाह लग जाती है वह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, मानसिकता तो उसकी दरिद्र की ही होती है।

एक और बात भी समझ लेने की है- मानसिकता का परिमार्जन या सुधार किया जा सकता है, उसे बदला जा सकता है, परन्तु इसके लिये

प्रयासों की आवश्यकता होती है। अभ्यास करते रहने से तो जड़मति भी सुजान बन जाते हैं-

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात से सिल पर परत निसान॥

रस्सी जैसी नर्म चीज के आने-जाने से तो कठोर पत्थर पर निशान तक पड़ जाते हैं।

आपके सामने तो अत्यंत अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। जैन परिवार में आपको जन्म मिला है, जैन धर्म का अवलम्बन मिला है, प्रभु महावीर की देशना मिली है, सद्शास्त्रों का भण्डार आपके पास है, संघ का सहयोग मिला है और साधु-संत तो हर समय आपको प्रेरणा देने के लिये तत्पर हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि चातुर्मास और पर्युषण पर्व जैसे अवसर आपको उपलब्ध होते रहते हैं। यदि आप थोड़ा-सा भी अपनी वृत्तियों को मोड़ें, विचारों में थोड़ा-सा भी परिवर्तन लायें तो आप इस भव को सार्थक बना सकते हैं। मैं यह बात भी विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि जैन समाज का वातावरण अत्यंत अनुकूल है, जैन सामान्यतः चरित्रवान, उदार और धार्मिक हैं, इसलिये कुछ दुर्बलमति लोगों को प्रेरित, अनुशासित एवं निर्देशित कर उनमें अपेक्षित परिवर्तन करने का कार्य समाज के लिये बिल्कुल कठिन नहीं है। अनेक दृष्टियों से जैन समाज आज भी आदर्श समाज है। आवश्यकता इस बात की है कि आप अपने आदर्शों के प्रति थोड़े गंभीर बनें, विचारों में किंचित् अधिक दृढ़ता लायें और भावनाओं को थोड़ा और उदार बनाकर प्रवाहित होने के लिये खुला छोड़ दें। आप देखेंगे कि आस-पास का सारा क्षेत्र जैन आदर्शों और सिद्धान्तों से आप्लावित हो जायेगा और वह दिन भी दूर नहीं होगा जब हम भी त्रिभुवन के नाथ बन जायेगें।

18.09.2000

❖ ❖ ❖

15. काले कालं समायरे

काल का विचार करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होना बताया गया है। इससे यह बात समझ में आ जाती है कि व्यक्ति को अवसर का ज्ञाता होना चाहिये। उसे अवसर को पहचानना आना चाहिये। समयज्ञ होना चाहिये। जिसे समय का ज्ञान हो गया अथवा जिसने समय का ज्ञान कर लिया और निर्णय कर लिया कि कौनसा काल चल रहा है, उस काल में कौनसी प्रवृत्ति ह ोनी चाहिये और किस प्रकार होनी चाहिये, वह अनेक दुष्परिणामों से बच जाता है।

एक मुनि की रात्रि में नींद खुल गई। नींद खुल गई है तो वे स्वाध्याय की स्थिति में आ गये। संयोग से उधर से एक देव गुजरा, वह सम्यक्दृष्टि था। उसने संत को स्वाध्याय करते देखा, तन्मयता देखी कि अत्यन्त तन्मय बना हुआ है तो उसकी सद्भावना जागी। विचार करने लगा- ये स्वाध्याय कर रहे हैं, पर अभी स्वाध्याय का काल नहीं है। यदि किसी मिथ्या दृष्टि देव का आगमन हुआ तो वह देव इन्हें छल सकता है, ऐसे देव के चक्कर में ये आ सकते हैं इसलिए इन्हें सावधान कर देना चाहिए। पर ऐसे सावधान किया तो समझ पायें, न समझ पायें। इसलिए उसने ग्वाले का रूप बनाया, माथे पर मटकी रख ली और जोर-जोर से आवाज़ लगाने लगा- दही लो, दही लो और वह आवाज़ भी कहाँ लगाने लगा ? वहीं स्थानक के किनारे, खिड़की के पास। महाराज ने सोचा- कैसा व्यक्ति है ? आधी रात्रि में दही कौन लेगा ? उन्होंने खिड़की से मुँह निकालकर कहा- अभी दही बेचने का समय नहीं है। अभी क्यों आवाज कर रहे हो ? समय तो देखा होता। ग्वाला रूपधारी देव ने कहा- किसे उपदेश दे रहे हो ? पहले स्वयं ने तो विचार किया होता कि यदि दही बेचने का समय नहीं है तो क्या अभी स्वाध्याय करने का काल है ? महाराज को भी बात समझ में आ गई कि यह काल स्वाध्याय का नहीं है। कान पकड़कर मिच्छामि दुक्कड़ं दिया। देव चला गया। कहने का आशय यह है कि चाहे स्वाध्याय कर रहे हैं और स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म

का क्षय, क्षयोपशम होता है, किन्तु यदि काल का ज्ञान नहीं हो और अकाल में स्वाध्याय किया जाता है तो अकाल में करने से अनेक हानियाँ बताई गई हैं।

सबसे पहले श्रुत के प्रति अविनय की बात होती है, बहुमान की स्थिति नहीं रहती। इसलिए शास्त्रकारों ने स्पष्ट संकेत दिया है-

''काले कालं समायरे।''

जो काल निर्धारित है, उसी काल में, उसी प्रकार की क्रिया संपन्न होनी चाहिए। जो उस काल में नहीं करता तो उसे समयज्ञ नहीं कहा जा सकता। काल की सूक्ष्मता का अनुभव करते हुए कहा गया है कि समय मात्र का प्रमाद नहीं किया जाये-

'समयं गोयम मा पमायए।'

यदि समय मात्र का प्रमाद नहीं करता है तो निश्चित ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करने वाला होता है।

आप कहेंगे महाराज ! आप कह रहे हैं कि समय का ज्ञाता होना चाहिए इसलिए हम भी कह रहे हैं कि वर्तमान काल इलैक्ट्रॉनिक काल है। वर्तमान काल में बहुत-से साधन विद्युत के माध्यम से संचालित होते हैं, चाहे वह विद्युत पानी के माध्यम से तैयार हो अथवा सौर ऊर्जा आदि के माध्यम से पैदा हो, किन्तु अधिकांश क्रियाओं में विद्युत का संयोग बना हुआ है। इनमें वर्तमान समय में बहुत ज्यादा प्रचलित है सेल की घड़ियाँ, मोबाइल फोन, श्रवण यंत्र, ध्वनिवर्धक यंत्र आदि। कई भाई कहते हैं कि महाराज-सा सेल की घड़ियों के विषय में तो अब बोलना ही नहीं चाहिये। किन्तु यदि कहेंगे नहीं तो बहुतों को ज्ञान ही नहीं होता, वैसी स्थिति में संतो को छू लेते हैं। तो उनका दर्शन भी शुद्ध नहीं होता और संतो को भी प्रायश्चित्त आता है ! सेल की घड़ी हाथ में लगी है, मोबाइल फोन पॉकेट में है, और संत भिक्षार्थ पहुँच जायें तो सुपात्रदान का लाभ ही नहीं ले पाते। यदि घड़ी पॉकेट में डालकर बहरा भी दिया तो दान शुद्ध नहीं, क्योंकि शुद्धि तीन प्रकार की कही गई है- द्रव्य शुद्धि, दायग शुद्धि, प्रतिग्राहक शुद्धि।

द्रव्य शुद्ध होना चाहिए, दाता शुद्ध होना चाहिए और दानार्थी

शुद्ध होना चाहिए। जिसके पास सेल की घड़ी या मोबाइल फोन है, वह दाता शुद्ध नहीं। अशुद्ध है। उसकी अशुद्धि से दान का जो फल प्राप्त होना चाहिए वह नहीं हो पाएगा। और तो क्या बतायें आपको, आजकल ऐसा भी कानों से सुनने में आता है कि सामायिक की जा रही है और सामायिक में सेल की घड़ी हाथ में लगी है। इससे स्वयं की सामायिक तो शुद्ध नहीं ही होगी और अन्य सामायिक वालों के बीच बैठकर कितनों को दोष भी लगा देंगे। यदि संतों के चरण स्पर्श करते हैं और हमारे ध्यान में नहीं रही तो संतों को भी दोष लगायेंगे और सामायिक वालों से संस्पर्श कर रहा है तो जिन-जिन से संस्पर्श होगा उनको दोष लगेगा। यहाँ इन उठाऊ पाटियों पर बैठे हैं और एक भी घड़ी वाले ने पैर रख दिया तो परम्परा से संघटे की स्थिति। वैसे देखें तो इन पाटियों पर बैठना भी शुद्ध नहीं है, क्योंकि इनकी प्रतिलेखना नहीं होती है। इनके नीचे कोई जीव आ गया तो क्या स्थिति बनेगी ? आप कहेंगे कि वर्षों से परम्परा चली आ रही है। वर्षों से चल रही परम्परा की समीक्षा करना और बदलना पड़े तो लगेगा, ऐसा कैसे हो ! विवेक की बात है। ऐसी बातें भी सामने आती हैं कि समय बदल गया है इसलिए आपको मौन रखना चाहिये। समय का तकाजा है और काल को देखकर व्यक्ति को काल के अनुसार परिवर्तित होना चाहिए। बहुत संत परिवर्तित भी हुए हैं, आप भी परिवर्तित हो जाइये।

वर्तमान काल मीडिया का युग है। उसमें न आयें, तो धर्म का प्रचार कैसे होगा ? बन्धुओं ! धर्म का प्रचार तो होगा या नहीं होगा, पर प्रचार के लिये धर्म बच ही कहाँ पाएगा ? कपूर की टिकिया खोल दी तो गंध उड़ जाएगी और थोड़ी देर खुली छोड़ दी पुड़िया तो कपूर का अस्तित्व नहीं रहेगा। कपूर थोड़ी देर हवा में खुला रहेगा और बाद में कागज में देखें तो क्या मिलेगा ? वैसे ही प्रचार तो हो जाएगा, पर धर्म कहाँ मिलेगा ?

धर्म-धर्म सब कोई कहे धर्म न जाने कोय।
जात न जाणे जीव की धर्म किस विध होय।

जीव की जातियाँ कितनी हैं ? कहेंगे- जीव तो हम हैं, हमारी जाति ओसवाल, पोरवाल आदि और पूछ लूं ओसवाल कितने हैं, पूरे देश में ? एक करोड़ से ज्यादा तो शायद ही होंगे। आप जानो, मैंने तो सर्वे

नहीं किया, न ही उसकी कोई पद्धति है। जब एक करोड़ में भी इतनी जातियाँ हो जाती हैं तो संसार में अनंतानंत जीव भरे हैं, उनकी जातियों का ज्ञान कैसे हो ?

जातियाँ पाँच कही गई हैं जानते हैं ? एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति के साथ जातियों का स्वरूप भी जानना होगा। गति-जाति आदि 14 मार्गणाओं से जीव की खोज होती है। 14 मार्गणाओं के माध्यम से हम जीव तक पहुँचने का प्रयत्न कर सकते हैं। यदि कोई जयपुर आना चाहे तो कितने मार्ग हैं ? कोई अजमेरी गेट से, कोई दिल्ली गेट से, न जाने कितने गेट हैं। अनेक गेट से जयपुर में प्रवेश होता है। वैसे ही जीव को जानने की 14 मार्गणाएँ हैं, जिनसे जीव का हम ज्ञान कर सकते हैं।

लोग कहते हैं शास्त्रकारों ने काल की प्रतिलेखना के लिए कहा है- विचारणा की बात कही है; तो आपको भी विचार करना चाहिये! यदि गला खराब है तो जोर लगाने के बजाय माइक का उपयोग कर लिया तो जोर नहीं लगेगा और सबको ठीक सुनाई भी पड़ेगा। कोई कहता है कि अपवादस्वरूप कर लिया जाए तो क्या है। पर अपवाद क्या है ? उत्सर्ग क्या है ? यह जाने कौन ? इसकी बड़ी बारीकी से व्याख्या की गई है।

एक ऋषि चले जा रहे थे। भूख से हाल बेहाल हो गये थे। म्लेच्छ या क्षुद्र कुल या दुगुंच्छ कुल के व्यक्ति, जिनके हाथ का स्पर्श किया हुआ अन्न उस समय ग्रहण नहीं किया जाता था, उनके बीच पहुँच गये। ऋषि को भूख लगी थी। स्थिति यह थी कि यदि खाने को न मिलता तो संभव था जीवन लीला समाप्त हो जाती। भोजन भी उनके द्वारा खाया जा रहा था, ऐसा जूठा ! ऋषि ने कहा- 'मेरा जीवन खतरे में है, भोजन दे दो। 'ये झूठा है।' झूठा हो या अशुद्ध, मेरे तो प्राण निकल रहे हैं। इसलिए ऐसा ही दे दो।' उन्होंने भोजन दे दिया। ऋषि ने वह पूरा खा लिया पेट भर गया। वे भाई कहने लगे- 'ऋषिजी यह पानी पी लो।' ऋषि बोले- 'खबरदार ! मैं ऋषि हूँ। जूठा पानी कैसे पी सकता हूँ ? वह अपवाद था। जूठा भोजन अपवाद की स्थिति में लिया था। जीवन लीला समाप्त होने वाली थी, ऐसी स्थिति में मैंने अकल्पनीय आहार ग्रहण किया। वह अपवाद था, पर अभी पानी के बिना प्राण समाप्त नहीं हो रहे

हैं। इसलिए जूठा पानी नहीं पीऊंगा।' यह होती है अपवाद की बात। जहाँ संयम जीवन खतरे में पड़ रहा हो, वहाँ अपवाद का आश्रय लिया जा सकता है। यदि एक साधु नहीं बोले, मौन रह जाये तो क्या जीवन खतरे में पड़ेगा ? व्यक्तियों को नहीं सुनाई देता, यह अपवाद में नहीं है। और काल का आश्रय ले लें तो थोड़े समय रौनक आ सकती है, किन्तु जैसे कपूर उड़ जाने पर नहीं मिलता है, वैसे ही हमें धर्म नहीं मिलेगा। और आप जानते हैं, वहाँ कपूर की गंध कितनी देर मिलेगी ? थोड़ी देर, फिर कागज खाली। जब कपूर है ही नहीं तो गंध आये कहाँ से ? वैसे ही यदि प्रचार के साथ धर्म का समझौता होने लगा तो ऐसा समय भी आ सकता है कि धर्म का स्वरूप मिलना भी कठिन हो जाये।

बंधुओ ! समय कम है तो धर्म-अनुष्ठान कम कर सकते हैं, पर जितने भी धार्मिक अनुष्ठान करें, वे शुद्ध किये जायें ! शुद्ध अनुष्ठान जितना लाभ पहुँचायेंगे गड़बड़ करके किये गये बहुत-सारे अनुष्ठान उतना लाभ कभी नहीं पहुँचा पायेंगे। एक व्यक्ति सोचता है कि मुझे दान करना है और आज ही करना है। सोचा, अनाज कम है तो जितना अनाज है उसी में कंकर मिलाकर पीस लूं तो रोटी अधिक बन जावेगी। रोटी का ढेर लग जावेगा, सौ की जगह दो सौ जीम लेंगे । परन्तु क्या एक भी व्यक्ति सही ढंग से भोजन कर पाएगा? कभी नहीं। क्योंकि रोटियाँ खाने योग्य ही नहीं रहेंगी। बल्कि यों समझिये, जितने में सौ लोग तृप्त होते उतनी रोटियां भी फेंकनी पड़ेंगी और शायद कुत्ते भी वैसी रोटी नहीं खायेंगे। इस प्रकार गड़बड़ करके सौ के लायक अनाज को भी बिगाड़ दिया जायेगा। वैसे ही अधिक व्यक्तियों को धर्म-आराधना करवाने के लक्ष्य से मूल स्वरूप विकृत नहीं होने देना चाहिये। कुछ लोग कहने लगे कि महाराज ज्यादा को लाभ मिलेगा, हमको दया ज्यादा करानी है, 1000 करानी है तो छूट करनी पड़ेगी। आप उस प्रकार की आराधना करवा सकते हैं, पर उसे छःकाय का बाना मत पहनाओ। छःकाय का स्वरूप यथावत् रहना चाहिये। दया 7/8 प्रहर की होनी चाहिये। यदि दिन-दिन की आराधना करनी हो तो उसे दया भाव समझना चाहिये।

कई भाई ऐसा भी तर्क रखते हैं कि धर्मस्थान में कोई सेल की घड़ी पहनकर बैठै तो फिर कान में यंत्र लगाने में क्या दिक्कत है ? जैसे

वह हाथों में बंधी पड़ी रहती है वैसे ही श्रवण यंत्र पड़ा रहेगा। तर्क अपने स्थान पर सही हो सकता है, पर दोनों में भारी अंतर है। घड़ी में शब्द पकड़े नहीं जाते, पर श्रवण यंत्र कान में लगा है, उसमें हमारे शब्द कैच होते हैं। हमारे शब्दों को वह ग्रहण करता है। यदि श्रवण यंत्र हमारे शब्द पकड़ता है तो हमारे शब्द के निमित्त से तेउकाय की हिंसा होती है। साधु के निमित्त से, साधु के शब्द से हुई तेउकाय की विराधना यदि वैध या उचित मानी जाये तो दूसरा तर्क आएगा कि फिर माइक में बोलने में क्या अन्तर है ? माइक का भी वही काम है जो श्रवण यंत्र का है। श्रवण यंत्र एक को सुनाता है, माइक हजारों को। जब एक को सुनाने के लिए तेउकाय की हिंसा की जा सकती है तो हजारों को सुनाने के लिए उसका प्रयोग क्यों नहीं किया जा सकता ? जब एक पर करुणा कर सकते हैं तो हजारों पर क्यों नहीं ? क्या किया जाये ? क्या इस प्रकार काल से समझौता किया जाये ? विचार कीजिए कि तब क्या प्रतिलेखना होगी ? क्या उसमें ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाएगा ? इस प्रकार की काल की प्रतिलेखना से क्षयोपशम नहीं होगा, बल्कि कर्मबन्ध का प्रसंग बन सकता है।

आचारांग में भी कहा गया है कि खणं जाणाहि पंडिए- क्षण का तात्पर्य आत्मा से भी लिया है और समय से भी, कि वह एक क्षण, एक समय को जान लेता है; वह काल का ज्ञाता होता है। समय का भी विचार करना चाहिये। होली के गीत होली में ही गाये जाते हैं और दीपावली के दीपावली में। कोई दीपावली के दिन गंदी गाली बकने लग जाये, जैसा होली में कहता हैं कि बुरा न मानो होली है, तो कैसा लगेगा ? और होली पर कोई लक्ष्मीपूजा करने लगे तो लोग क्या कहेंगे ? इसलिए काल की बात काल के अनुसार होनी चाहिए।

आयुर्वेद सिद्धांत में बहुत-सी बातें समय को लेकर बतायी गई हैं कि चैत के महीने में क्या खाना चाहिए, क्या नहीं। इस प्रकार 12 महीनों के लिए बताया गया है। दिन के प्रथम प्रहर के बारे में, इसी प्रकार चारों प्रहर के लिए बताया गया है कि किस प्रहर में क्या सेवन करें। यदि उन बातों की आज कोई पालना करके चले तो एकाएक अस्वस्थ नहीं हो। पर आज हमें उस विज्ञान की चिंता नहीं है। जो कुछ आ जाए, खा

लो। पेट कहता है अब एक कौर भी नहीं चाहिए, पर हम उसकी बात अनसुनी कर देते हैं और मुसीबत मोल ले लेते हैं ! उसे सुना नहीं जाता तब ही शरीर पर अटैक होता है। मुँह से हार्ट पर, किडनी पर, किडनी से घुटनों में दर्द आ जाता है। वह कैसे आया ? पेट से आया। पेट शुद्ध होता तो ये दर्द आते ही नहीं। चिन्तन करने की आवश्यकता है। काल की व्यवस्थित रूप से जानकारी कर लें और उसके अनुसार ही गीत गाएं तो वे बड़े सुहावने लगेंगे। बच्चा जब जन्म लेता है, तब क्या करते हैं ? थाली बजाते हैं। छत पर, दो-तीन मंजिल हो तो ऊपरी मंजिल पर चढ़कर। मंगल गीत भी गाये जाते हैं। परन्तु यदि किसी के घर गमी हो जाए और कोई मकान की छत पर चढ़कर थाली बजाए और मंगल गीत गाए तो क्या होगा ? यह है काल के ज्ञान की बात। काल का ज्ञान रहा तो कहीं असफल नहीं होंगे। यदि मनमाने तरीके से काम किया तो काल के ज्ञाता होने का लाभ नहीं मिलेगा और परेशानी का सामना करना होगा। हर समय समस्या बनी रहेगी। पर यदि काल की प्रतिलेखना कर ली तो फिर कोई तनाव-टेन्शन नहीं रहेगा। ऐसा व्यक्ति टेन्शन नहीं रहने से, ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और अधिक कर पायेगा।

काल की प्रतिलेखना न करें तो दिमाग में टेन्शन रहेगा और ज्ञान घटेगा। वहाँ ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय तो दूर, बल्कि बंध हो जाएगा ! प्रतिक्रमण कितनी बार करते हैं ? एक बार तो रोज खाता खोलकर देखना चाहिए कि कितना लाभ, कितना नुकसान हुआ है। कोई खोलकर देखे नहीं, आँख मूँदकर चले, फिर माथा पकड़कर रोए कि कितना नुकसान हो गया। और साल-भर में एक बार में सोचे कि पूर्ति कर दूं, तो एक दिन में पूर्ति नहीं हो पाएगी। यह न सोचें कि संवत्सरी को प्रतिक्रमण कर लिया, अब साल-भर की छुट्टी। ऐसे नहीं होगी। काल की प्रतिलेखना हर समय होनी चाहिए। काल की प्रतिलेखना का विचार हर क्षण, हर समय व्यक्ति को अलर्ट या सावधान रखता है। हर क्षण-हर समय यदि वह सावधान है तो ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। कितनी महत्त्वपूर्ण बात बताई गई है, पर हम कितना ध्यान रखते हैं इस बात का ? काल की महिमा और क्षण की पहिचान के महत्त्व की बात मैं आपको बताऊं। महारानी त्रिशला काल की ज्ञाता थीं। उन्होंने जो चौदह स्वप्न देखे, उनकी बात महाराज सिद्धार्थ को बताई। सिद्धार्थ राजा के मुँह से उनका अर्थ

सुनकर के जाकर पलंग पर ऊंघने नहीं लगीं, रजाई ओढ़कर सोयी नहीं, बल्कि शांत भाव से चिन्तन-मनन कर समय व्यतीत करने लगीं।

हम भी अवसर के जानकार बनें। कैसे अवसर पर क्या चिन्तन करना चाहिये और क्या व्यवहार होना चाहिये। क्योंकि काल-प्रतिलेखना का बहुत महत्त्व है। इस संबंध में जब भगवान महावीर से पूछा गया- "कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?" भंते ! काल की प्रतिलेखना से जीव को क्या उपलब्ध होता है ? तब प्रभु ने स्पष्ट कहा- कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई।" अर्थात् काल प्रतिलेखना से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है। अतः यह समझ लेने की बात है कि प्रादोषिक प्रभातिक आदि रूप काल की प्रतिलेखना अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से स्वाध्याय, ध्यान, शयन, जागरण, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, भिक्षाचर्या आदि धर्मक्रियाओं के लिये उपयुक्त समय की सावधानी का ध्यान रखना परम आवश्यक है।

सूत्रकृतांग में बताया गया है कि अशन, पान, वस्त्र, शयन आदि के काल में अशानादि क्रियाएँ करनी चाहिये-

"अन्नं अन्नकाले पान पानकाले वत्थ वत्थकाले, लेण लेणकाले, सयण सयणकाले।" (सूत्रकृतांग 2/1/15)

दशवैकालिक सूत्र में भी सभी कार्य समय पर करने की बात कही गई है। वहाँ काल का स्पष्टीकरण भी किया गया है-

कालेण णिक्खमे भिक्खू, कालेण पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे॥ (5/2/4)

तात्पर्य यह है कि जिस देश में गृहस्थों के भोजन का जो समय हो, उसी समय भिक्षु को भिक्षा के लिये जाना चाहिये, जिससे स्वाध्याय आदि में अन्तराय न पड़े। अकालचारी होने के कारण भिक्षा नहीं मिलने पर स्वाध्याय आदि कार्य वह समय पर कर नहीं पाएगा।

इसलिए काल की महिमा को समझना एवं उसके अनुसार व्यवहार करना बहुत आवश्यक है।

19.09.2000

❖ ❖ ❖

16. पाप विशोधन का यन्त्र

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। उसका चिन्तन सतत् चलता रहता है, किन्तु वह चिन्तन-प्रवाह कभी शुभ में, तो कभी अशुभ में प्रवाहित होता रहता है। दोनों तरफ उसके विचार चलते हैं और यदि पूरी मानव-जाति के चिन्तन के रूप का निष्कर्ष निकाला जाये तो मनुष्य की विचारधारा के तीन रूप हमारे सामने उभरकर आते हैं ! एक विचारधारा होगी- पाप-पुण्य कुछ नहीं होता। न कुछ पुण्य है, न कुछ पाप है, सब बकवास है। दूसरी विचारधारा- पाप-पुण्य हैं। पाप से हम बच नहीं सकते और इतने-सारे पापों का फल भी भोग नहीं सकते, परन्तु मन में अनुताप-परिताप यदि करते रहें तो हमारा विकास नहीं हो सकेगा, इसलिए जो कुछ भी हमने पाप किये हैं, दिन-भर के पापों को परमात्मा के चरणों में यह कहकर अर्पित कर दें कि हे प्रभो ! मैं चाहता हूँ मेरे सारे पाप आप समाप्त कर दें। इस विचारधारा या मान्यता के अनुसार यह सोचा जाता है कि परमात्मा के चरणों में यदि क्षमायाचना कर ली जाये तो परमात्मा हम पर कृपावर्षण करेंगे और हमारा सारा पाप समाप्त हो जावेगा। फिर दूसरे दिन उसी तरह से पाप किया जा सकेगा। वह पुनः परमात्मा के चरणों में अर्पित कर देंगे और वह पाप पुनः हमें नहीं लगेगा। तीसरी विचारधारा है- जो पापकर्म किया जायेगा उसका फल भी तुम्हें ही भोगना होगा। जो पुण्यकर्म किया जावेगा, उसका फल भी तुम्हें भोग करना होगा। जो कार्य किया जाता है उसका फल करने वालों को ही प्राप्त होता है। ये तीन विचारधाराएँ मुख्य रूप से मानव के आध्यात्मिक चिन्तन को प्रभावित करती हैं।

पहली विचाराधारा से, जिसके अनुसार पुण्य-पाप कुछ नहीं हैं, जन्म हुआ है तो खाओ, पीओ, मौज करो। जितना आनंद प्राप्त हो सकता है उतना लेकर आनंद से जीवन व्यतीत करो। भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। मगज में यह फितूर लाने की आवश्यकता नहीं कि

परलोक में इसका क्या फल मिलेगा ? चार्वाक का चिन्तन इसी प्रकार का था जिसने कहा था- यावद्जीवेत सुखं जीवेत्, ऋण कृत्वा घृतं पीवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनर्जन्मम् कुतः ? अर्थात् जब-तक जीयो, सुख से जीयो, ऋण लो और घी पीओ, क्योंकि यह शरीर भस्म हो जाने वाला है, पुनः जन्म कहाँ होना है ? और जो यह मानते हैं कि पाप करो, किन्तु परमात्मा को अर्पित कर दो, उनकी बात बड़ी विचित्र है। पाप हमने किये और उन्हें परमात्मा के चरणों में रख दें। वह ही उनसे निपटे। तीसरी विचारधारा में कहा गया है कि जो पुण्य-पाप करेंगे उनका फल तुम्हें ही मिलेगा। गाँधीजी जब विदेश जाने लगे तब माता ने प्रतिज्ञा करवाई कि मदिरापान नहीं करना, माँस का सेवन नहीं करना, परस्त्री को माता के समान समझना। ये बातें महत्त्वपूर्ण बनीं, गांधीजी के जीवन-निर्माण में ये नींव का कार्य कर गईं। विदेशों में कई प्रसंग आये। माँस-सेवन का खुला आह्वान मिला। परस्त्री के लिए भी कहा गया, पर वे प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे ! इस कारण उनकी पहचान बनी कि ये साधारण व्यक्ति नहीं हैं। पोशाक-कपड़े साधारण हो सकते हैं, पर विचारों की दृष्टि से ये अपने-आप में महान् व्यक्ति हैं।

प्रभु महावीर ने अम्बड़ संन्यासी से कहा कि सुलसा को धर्म-संदेश कहना। अम्बड़ भी प्रभु महावीर के प्रति आस्थावान था। बारह व्रत की आराधना करके चलने वाला था। उसके मन में विचार आया कि भगवान महावीर के तो बहुत श्रावक हैं, फिर सुलसा को ही धर्म-संदेश की बात क्यों कही ? क्या कारण है ? इसकी भी जरा परीक्षा कर ली जाये, अपने-आप स्थिति स्पष्ट हो जावेगी। और परीक्षा की गई। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सभी के रूप बना लिये और 25वें तीर्थंकर के रूप में भी स्वयं को अवतरित कर लिया। एक कालचक्र में कितने तीर्थंकर होते हैं ? कोई कह रहे हैं 24, बहनें कह रही हैं 48, हमारे रटने के कारण दिमाग में 24 की बात जमी हुई है। यहाँ यह मतलब नहीं है कि अवसर्पिणी में होते हैं या उत्सर्पिणी में होते हैं। हम इतना जानते हैं कि तीर्थंकर 24 होते हैं, परन्तु एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणी, दोनों मिलाकर एक कालचक्र होता है। उसमें 48 तीर्थंकर होते हैं, पर एक क्षेत्र में एक

अवसर्पिणी या एक उत्सर्पिणी में 24 ही होते हैं। इसलिए यदि 25वें तीर्थंकर का संदर्भ आ जाये तो हम एक बार विचार कर सकते हैं कि दर्शन करने भले न जायें, पर देखें तो सही, कैसा रूप है ? पर सुलसा के मन में ऐसा कोई विचार नहीं आया। वस्तुतः विचार करें तो क्या देखेंगे ? देखने-देखने में ही तो अनादिकाल से भ्रमण कर रहे हैं और इन्द्रियों के कारण भ्रमित हो रहे हैं। फिर क्या देखना बाकी रह गया ? पर हमारी इन्द्रियाँ बड़ी चंचल हैं ! चंचल मिला, वे चंचल हो जाती हैं- तुम्हारे पास दृष्टि है, फिर क्यों नहीं देखते हो ? गंध आने लगती है तो घ्राणेन्द्रिय (नासिका) चंचल हो जाती है। पर शास्त्रकारों ने साधुओं को स्पष्ट निर्देश दिया है कि देखने के निमित्त से सक्रिय न हों। यह नहीं कि पता चले कि जयपुर के नरेश चौड़े रास्ते से गुजर रहे हैं तो साधु के मन में विचार आ जाये कि जयपुर के नरेश कैसे हैं, कौन हैं ? देख तो लूं। ऐसे विचार से यदि एक कदम भी बढ़ाया तो प्रायश्चित्त का कारण बनेगा और अगर देख लिया तो ? जब विचार करके कदम बढ़ाने में भी प्रायश्चित्त है तो देखने में तो कितना प्रायश्चित्त आयेगा, यह जाना जा सकता है। क्या देखना है, किसको देखना है ? हाँ, वैसे ही चल रहे हों और बीच में सवारी आ जाये तो बात अलग है, पर साधु यदि यह सोचकर कि अहा ! कैसी शानदार सवारी है। इस प्रकार अनुमोदन करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी बनता है। इसी प्रकार यदि गंध के प्रति लगाव करे और यह लगाव यदि प्रभावी बन जाये और फिर सचित्त या अचित्त पदार्थ की गंध लेता रहे तो प्रायश्चित्त का कारण बनता है।

बंधुओ ! ये इन्द्रियाँ बड़ी चंचल हैं। इन इंद्रियों को विषयों के प्रति खुला छोड़ दिया तो फिर अंतर में जो दृढ़ता, समाधि के भाव आने चाहिए, तरलता से ठोसता आनी चाहिए, वह आ नहीं पाएगी। हमारे अध्यवसायों को इंद्रियाँ चलित करती रहेंगी। कवि आनंदघनजी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि चित्त में जो चंचलता है, वही भय का कारण है। उसके कारण आध्यात्मिकता का सही ढंग से आचरण नहीं हो पायेगा। परिणामों में चंचलता रहेगी तो आत्मा की अनुभूति हो नहीं पाएगी।

महात्मा गांधी विदेश गये तो अपने-आप में दृढ़ बने रहे। जैसे

दृढ़ता के कारण सुलसा की पहचान बनी, वैसे ही गांधीजी की पहचान बनी कि यह ऊँची धोती पहनने वाला महानता लेकर चलता है। कहाँ अंग्रेजों का रहन-सहन, कपड़ों पर क्रीज, उनके सामने गांधीजी का क्या रूप, फिर भी गांधीजी के विचार सुनने बड़े-बड़े नेता तैयार रहते थे और चाहते थे कि महात्माजी से कुछ बोलें। ऐसे भी प्रयत्न होने लगे कि गांधीजी को अपने धर्म-पंथ में जोड़ लिया जाय। यदि ऐसा व्यक्ति जुड़ा तो धर्म की बहुत वृद्धि होगी। धर्मप्रचारकों की ओर से बहुत प्रयास हुए। एक ईसाई ने कहा, आप गांधीजी, कोई भी बात होती है तो प्रायश्चित्त करते हो। रोज मन में यह बना रहता है कि मेरे से यह पापकर्म हो गया। ऐसी खटपट करते रहने से दिमाग में बना रहता है कि मैंने पाप किया है। पाप से संबंधित ऐसे विचार निरन्तर व्यक्ति को व्यथित करते रहेंगे। ऐसी स्थिति में वह खुलकर कोई कार्य नहीं कर पायेगा। हमारा मानना है कि दिनचर्या के पालन के दौरान पाप हो जाये, तो वह पाप यीशू को अर्पित कर दो। यीशू परमात्मा की संतान है। जो यीशू को कुछ अर्पित करता है, ईश्वर उस पर प्रसन्न होकर उसके सारे पाप माफ कर देता है। लेना-देना, सारे खाते समाप्त। महात्मा गांधी ने भी बहुत-से तर्क दिये। पर वे उन्हें नहीं समझ सके। वह प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप, पाप को कहाँ मानने वाला था ! उसने ईसाइयों के बहुत चुस्त माने जाने वाले व्यक्तियों से सम्पर्क करवाया। उन्होंने भी कहा- हमारे ग्रंथों में लिखा है कि पाप तो होते रहेंगे, एक बार सारा अर्पित कर दिया तो पाप से मुक्त हो जाओगे। हम पाप करते हैं, पर अर्पित कर देते हैं इसलिए उनका लेप हमारे साथ नहीं लगता है। गांधीजी ने उन विचारों को सुना और सुनने के बाद उनकी लंबी-चौड़ी दलीलों का उत्तर दिया कि यदि यही ईसाई धर्म का मूल है तो मुझे ऐसा धर्म नहीं चाहिये। जो पापकर्म से मुक्त नहीं होने देता, किन्तु पाप-फल की मुक्ति चाहता है। मैं चाहता हूँ कि हम पाप-व्यवहार से, पापकर्म से मुक्त हो जायें। हम पाप करते चले जायें और पाप-फल से मुक्त होना चाहें तो यह बात सही नहीं है। वह ईसाई महात्मा गांधी को तो अपने पंथ में नहीं जोड़ सके, पर उसके पुत्र महात्माजी के भक्त अवश्य बन गये।

आज हम जो जैनी, अग्रवाल, माहेश्वरी आदि कहलाने वाले हैं,

विचार करिये कि हमारे विचारों में कौनसी वृत्ति चल रही है ? हम कषाय करते हैं, पाप की वृत्ति छूटती नहीं, पर चाहते हैं कि पाप-फल का भोग न करना पड़े। सब पाप माफ हो जायें। इस मानसिकता में आज भी बहुत-से व्यक्ति रहते हैं कि हम प्रार्थना कर लें और सारे पाप माफ हो जाएं। प्रयत्न यही होना चाहिए कि पाप और पापवृत्ति समाप्त हो जाये। इसका फार्मूला क्या है ? जब भगवान से पूछा गया तो भगवान ने उत्तर दिया-

पायच्छित्त करणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ।

प्रायश्चित्त से पापकर्म की विशुद्धि होती है। पापकर्म की विशुद्धि चाहते हो तो प्रायश्चित्त लो। प्रायश्चित्त से पापकर्म की विशुद्धि होती है। बीज पापकर्म है, यदि उससे विशुद्ध हुए तो पाप के फल ही नहीं मिलेंगे। फल कब मिलता है ? पापकर्म करते हैं तब मिलता है। पापकर्म ही नहीं किया तो मिलेगा क्या ?

भगवती सूत्र में पूछा गया- "जीवा न भंते सकड़ा कम्मं वेदयंति परकडा कम्मं वेदयंति" अर्थात् हे भगवन् ! क्या जीव अपने द्वारा कृत कर्म का वेदन करता है या 'परकडा कम्मं वेदयंति।" उत्तर मिला- "णो परकडा कम्मं वेदयंति।" स्वकृत कर्म का वेदन करता है, परकृत का नहीं। अपने किए हुए कर्म ही भोगने पड़ेंगे, पर के किये हुए कर्मों का भोग नहीं करना होगा। दूसरे ने जितना भी किया है उसका फल उसे ही मिलेगा। कोई सोचे कि उसके कर्म का भोग मैं कर लूं, तो यह नहीं होगा। स्वयं का स्वयं को भोगना होता है। इसलिये स्वयं प्रायश्चित्त का विधान करते हुए पापकर्म की विशुद्धि कर लें। प्रायश्चित्त कर लें और एक बार प्रायश्चित्त कर लिया, 'पापकम्मं अकरणया उब्भटिओमि।' ऐसी स्थिति में जो उपस्थित होता है कि "अब नहीं करना" उसका प्रायश्चित्त सही रूप में फलित होता है। पर हम प्रायश्चित्त भी सही रूप में कर नहीं पाते हैं। ऊपर से खमत-खामणा कर लेते हैं। कभी कह देते हैं कि खमत-खामणा कर लिया, फिर तो खाता बंद हो गया, किन्तु खाता क्या ऐसे वन्द होता है ? और वह बन्द हुआ ही कहाँ, वह तो लगातार चालू है। पीठ पलटी

और वापस काम चालू हो जाता है। एक तरफ तो कहते हैं कि प्रायश्चित्त करना है, नीचे उतरे नहीं कि वही घोड़ा, वही मैदान। ऐसा प्रायश्चित्त सही रूप में फलित नहीं हो पाता।

यह बात सही है कि प्रायश्चित्त रोजमर्रा के कार्य के लिए किया जाता है, पर वे रोजमर्रा के कार्य फिर किये जाते हैं। प्रायश्चित्त का अर्थ करें तो, 'प्राय' का अर्थ होता है पाप और प्राय का अर्थ होता है विशेष। चित्त का अर्थ विशोधन, अर्थात् विशेष करके पापकर्म का विशोधन करना। जैसे एक स्थिति से हम जब दूसरी स्थिति में अगला कदम रखेंगे तो कुछ-न-कुछ क्रिया लगेगी। तब हम योगों को रोक नहीं पाएँगे और वर्तमान में जिस अवस्था में चल रहे हैं उसे रोकना हमारे वश में नहीं है, तो जो क्रिया लगे, उसका प्रायश्चित्त नहीं है। किन्तु अब तक जो कुछ उपार्जन किया जा चुका है, पापों से तूने जान-बूझकर स्वयं को जो संयुक्त किया है, जान-बूझकर किया है उससे घबरा मत। जो धब्बे चादर पर लगे हैं, उन्हीं धब्बों का जो कुछ विशोधन किया जाता है, किन्तु जो स्वाभाविक योग प्रवृत्ति से क्रिया हो रही है, उसकी न तो हम आलोचना कर पाएँगे, न उसका प्रायश्चित्त ही हो पाएगा, किन्तु जानते हुए जो कुछ गलत कार्य- पापकर्म हुआ है, उसकी आलोचना होती है। उसी का प्रायश्चित्त होता है, जिससे चित्त शुद्ध होता है। किये गये कर्म का विशोधन करता है। पुनः पापकर्म नहीं करने रूप भावों में उपस्थित होता है। ऐसा हो जाता है तो पापकर्म की प्रक्रिया समाहित हो जाती है। फिर वह प्रक्रिया जुड़ नहीं पाती जिससे काली आत्मा उजली हो जाती है।

आज आप देख रहे हैं, धर्मपाल शिक्षकों का प्रशिक्षण शिविर है। ये शिक्षक धर्मपालों में धर्म के संस्कार भरने की तत्परता में रहते हैं। उनका प्रशिक्षण शिविर है। धर्मपाल आन्दोलन आचार्यदेव की एक नई ऐतिहासिक अलौकिक राष्ट्रीय देन है। गांधीजी ने अस्पृश्यता की बात कही थी पर आचार्यदेव ने यह संदेश दिया कि मानव को घृणा की दृष्टि से न देखा जाये, मनुष्य न जन्म से ही अछूत-अस्पृश्य होता है, न जो उच्च कुल में जन्म ले वह सदा वैसा ही रहता है। अकरणीय और कुवृत्ति से ऊपर उठकर काम करने वाला भी उच्च धरातल पर आ सकता है।

ऐसा ही कार्य इन्होंने किया है। भाई सीतारामजी ने कहा आचार्यदेव से- गुराड़िया पधारो। और एक उपदेश में ही 700 गांवों के पंचों ने खड़े होकर माँसाहार का परित्याग कर दिया- "हम माँस का सेवन नहीं करेंगे।" और आने वाली पीढ़ी भी उन्हीं के कदमों पर चली। आचार्यदेव का महाराष्ट्र, गुजरात से लौटते हुए मालवा में जब पदार्पण हुआ तब धर्मपालों का गुराडिया में सम्मेलन हुआ और यह प्रतिज्ञा करके नये समाज का सूत्रपात हुआ कि यदि कोई माँस का सेवन करने वाले बलाई जाति में रह गये हों तो उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं करेंगे और वे प्रतिज्ञा में आबद्ध हो गये। इस प्रकार वस्तुतः जो कुछ पूर्व में हुआ था, उसका प्रायश्चित्त करके "अकरणयाए अब्भुट्ठिओमि" उसमें पुनः स्वयं को उपस्थित नहीं करेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा में आबद्ध हुए हैं। इनकी प्रतिज्ञा में दृढ़ता है। जैसे सुलसा दृढ़ थी, वैसे ही ये भी मक्कम रहें। मूल कारण था- इन्होंने प्रतिज्ञा ग्रहण की। उस प्रतिज्ञा से मन में आत्मबल का जागरण हुआ। कई भाई कहते हैं- प्रतिज्ञा नहीं लेंगे, मन से पाल लेंगे। जब मन पक्का है तो प्रतिज्ञा लेने में कच्चावट क्यों ? मन यदि प्रतिज्ञा के लिए तैयार नहीं है, तो मन में कहीं-न-कहीं संशय रहा हुआ है। कहीं-न-कहीं कोई विचार टकरा रहा है। कोई भाग लचीला है इसलिए तैयारी नहीं होती है। प्रतिज्ञा मामूली चीज नहीं है। वह व्यक्ति को दृढ़ता देने वाली होती है। जैसे छत को टिकाये रखने के लिए मजबूत खंभे की आवश्यकता होती है, वैसे ही यदि चारित्र रूपी छत को मजबूत रखना चाहते हैं तो प्रतिज्ञा रूपी सशक्त खंभे होने आवश्यक हैं। परन्तु यदि खंभे मजबूत नहीं हैं, केवल ईंटों के ऐसे खंभे लगा दिए गये हैं जिन पर सीमेन्ट का पलस्तर और जोड़ नहीं है तो वह छत मजबूत नहीं रह सकती। ईंट खिसकी कि छत ढहने लगेगी। परन्तु यदि खंभे सीमेन्ट के मसाले से चिनकर मजबूत कर दिये तो मकान की छत व्यवस्थित रह सकती है। इसी प्रकार मनुष्य-जीवन में ऐसे खंभों का निर्माण करा लीजिये, वे विचलित नहीं होंगे तो चारित्र भी बरकरार रहेगा।

बंधुओ, मैं आपको बता रहा था कि प्रायश्चित्त करने से जीव पापकर्मों की विशुद्धि करता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाले

व्यक्ति मार्ग और मार्ग का फल, दोनों को निर्मल करता है। इसी प्रकार क्षमापणा से जीव को आह्लाद भाव प्राप्त होता है, जो उसे सभी प्राणों भूतों, और सत्त्वों के प्रति मैत्रीभाव से संयुक्त करता है। मैत्रीभाव को प्राप्त जीव भावविशुद्धि करके निर्मल हो जाता है।

इसीलिए पाप-क्षमा करा लेने की मानसिकता चरित्र-निर्माण में सहायक नहीं हो सकती। चारित्र के निर्माण में फलमुक्ति नहीं, पापमुक्ति की विचारधारा ही सहायक हो सकती है। उसी के आधार पर व्यक्ति पुरुषार्थी बन सकता है। इसलिए पाप करके उसे परमात्मा को अर्पित करने के बजाय उसका प्रायश्चित्त करके उस पापवृत्ति को ही समाप्त करने का लक्ष्य बनाया जाये।

20.9.2000
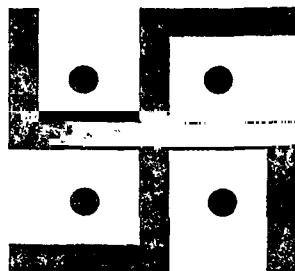
17. शिक्षा का उद्देश्य

परमात्मा की प्रार्थना करने के पीछे भक्त का भाव क्या होता है ? यदि वह यह सोचता हो कि परमात्मा की प्रार्थना करने से मेरे घर के भंडार भरे रहेंगे, मुझे धन की प्राप्ति होगी, बल की प्राप्ति होगी या मेरी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जायेगी या किसी ऐसे भाव से यदि वह प्रार्थना करता हो तो समझ लीजिए सच्चे मायने में परमात्मा के स्वरूप को वह जान ही नहीं पाया है। एक सच्चा भक्त कभी भी भौतिक पदार्थों की कामना नहीं करता। वह तो स्वयं भगवान-रूप बनने की तैयारी करता है। उसकी भावना यह रहती है कि तेरी और मेरी दूरी न रहे। सच्चा भक्त भगवान से दूरी को दूर करने का प्रयत्न करता है और प्रार्थना में भी उसकी भावना इसी रूप में प्रस्फुटित होती है। भगवान से दूरी या भगवान से विछोह वह सहन नहीं कर पाता। उसे तो भगवान और अपने बीच का अंतराल कचोटता रहता है, इसलिए चाहता है कि उस दूरी को वह समाप्त कर दे। वह कहता है-

तू सो प्रभु, प्रभु सो तू है,
भेद-कल्पना मेटो।

भेद की कल्पना समाप्त कर दी जाये। नदी का पानी उत्ताल तरंगें लेता हुआ अपने-आप को समुद्र में डाल देता है और समुद्र में गिरने के पश्चात् वह पूर्ण संतुष्टि का अनुभव करता है। वैसे ही भक्त भगवान में अपने अस्तित्व को विलीन कर स्वयं को विराट बना लेता है। फिर उसका अस्तित्व सीमित नहीं रह पाता, उसके अस्तित्व में विराटता आ जाती है। नदी का पानी समुद्र में गिरने के पश्चात् नदी का पानी नहीं रहता। वह समुद्र हो जाता है। जैसे अनेक बूंदें मिलकर समुद्र बनती हैं, एक बूंद में समुद्र नहीं होता, वैसे ही हममें भी अनेक शक्तियाँ हैं। उनका जागरण यदि हो जाये तो वह जागरण हमारे अस्तित्व को विकसित करने वाला बनता है।

नानेशनगर (दांता) के बालक यहाँ पर उपस्थित हैं। वे ऐसी ही भावना व्यक्त कर गये हैं। अधिकारी भी ऐसी ही भावना व्यक्त कर गये हैं। हम समझें कि हमारे अध्ययन का लक्ष्य क्या होना चाहिये। आज बालक अध्ययन करते हैं, अध्यापक वर्ग अध्ययन करवाता है और माता-पिता तथा अभिभावक वर्ग भी उन्हें अध्ययन करवाना चाहता है, किन्तु देखता यह है कि अध्ययन किसलिए किया जाये। कानोड़ में बी. एड. कॉलेज में मुझसे कहा गया था कि विद्यार्थियों के बीच मैं अपनी कुछ भावनाएँ व्यक्त करूँ। वहाँ अपने विचार रखते हुए मैंने उनसे पूछा था- आपके अध्ययन का उद्देश्य क्या है ? अलग-अलग विद्यार्थियों ने अलग-अलग उत्तर दिये थे। यहाँ भी यदि यही प्रश्न पूछा जाये तो सभी अलग-अलग विचार प्रकट करेंगे। कई विद्यार्थी कहेंगे- हम डॉक्टर बनने के लिए पढ़ते हैं। कई बोलेंगे- पढ़-लिखकर हम व्यापार करेंगे। कई व्यक्ति ऐसा भी कहने वाले होंगे कि हम रोजी-रोटी के लिए अध्ययन कर रहे हैं। कई यह भी कहेंगे कि हम ऊँची सर्विस पाने के लिए अध्ययन कर रहे हैं, किन्तु ये सारे अध्ययन के उद्देश्य नहीं हैं। आज हमारी पढ़ाई इन स्थितियों के साथ जुड़कर रह गई है। यह निश्चित है कि पढ़ने वाले की मृत्यु होगी और नहीं पढ़ने वाला भी कभी-न-कभी मृत्यु को प्राप्त करेगा-

पठितव्यं तदपि मरितव्यं,
न पठितव्यं तदपि मरितव्यं॥

तब विचार करें कि ऐसी स्थिति में पढ़कर क्या करना ? किसलिए संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी आदि का अध्ययन करना ? बोली न पढ़ें, वे भी बोल सकते हैं। उन्हें भी खाने के लिए रोटी मिल सकती है। कोई जरूरी नहीं है कि जो पढ़ेगा उसका ही पेट भरेगा। बहुत-से पढ़े-लिखे भी भूखे रह जाते हैं। कभी-कभी पढ़े-लिखों के दिमाग में यदि भूत भर गया तो वे विद्वान् नहीं बनकर मूर्ख बन जाते हैं। ऐसा ही एक युवक चला जा रहा था। चलते-चलते उसे भूख-प्यास सताने लगी। उसने सोचा- क्या करूँ ? पानी पीना है। कुछ आगे बढ़ा तो देखा एक कुआं था। बाल्टी पड़ी थी और डोरी भी लगी थी। उसने सोचा- कुएँ से

निकालकर पानी पीलूं। फिर विचार आया- मैं कैसे निकालकर पी सकता हूँ ? मैं तो अमीर का लड़का हूँ। मेरे माता-पिता के पास अपार संपति है। मैं स्वयं पानी निकालूं तो मेरी पोजीशन डाउन हो जाएगी। इसलिए अपने हाथों से निकालकर नहीं पीऊंगा, कोई हमाल आ जाये तो निकलवा कर पी लूंगा। इस विचार के साथ वह कुएँ की मुंडेर पर बैठ गया।

थोड़ी देर में वहाँ एक दूसरा युवक आ गया। वह भी प्यासा था। उसने भी एक बार विचार किया कि पानी निकालकर पी लूं, फिर सोचा कैसे पीऊं ? मैं तो नवाब का लड़का हूँ। वह भी जगत पर बैठ गया और बोला- पानी पीना तो है, पर मैं नवाबजादा हूँ। स्वयं निकालकर कैसे पीऊं ? पहले से वहाँ बैठे युवक ने भी कहा- पानी तो मुझे भी पीना है, पर मैं अमीरजादा हूँ, इसलिए निकाल नहीं सकता। जब तुम भी नहीं निकाल सकते तो मैं निकालूं, यह संभव नहीं है और दोनों प्यासे बैठे रहे। थोड़ी देर बाद वहाँ एक युवक और आया। वहाँ पहले से बैठे युवकों से उसने कहा- प्यास लगी है। पहले से बैठे युवकों ने कहा- हमें भी लगी है। देख रहे हैं, कोई पिलाने वाला आ जाय। फिर वे नवागन्तुक से बोले- आप ही मेहरबानी करो। आप पानी निकालो, हम भी पीलें, आप भी पीलो। नवागन्तुक ने कहा- तुम तो यहाँ आराम से बैठे हो, मैं तो अभी चलकर आया हूँ। मैं तो वैसे ही थका हुआ हूँ। तब उनमें से एक बोला- मैं अमीरजादा हूँ। दूसरा बोला- मैं नवाबजादा हूँ। मैं कैसे निकालूं। तब तीसरे ने कहा- आप अमीरजादा हैं यह नवाबजादा है तो मैं भी शहजादा हूँ। मैं निकालूं, यह कैसे संभव है ? और वह भी वहीं मुंडेर पर बैठ गया। विचार कीजिए, अमीरजादा, नवाबजादा, और शहजादा हैं, कुएँ के पास बैठे हैं, पानी निकालने के साधन बाल्टी, डोरी भी मौजूद हैं, किन्तु उसके बावजूद भी वे प्यासे बैठे हैं। क्या यह ठीक है ? इतने में चौथा युवक वहाँ आया। तीनों एक साथ बोल पड़े- भाई ! हम प्यासे हैं, मेहरबानी करो, पानी पिला दो। उसने कहा- आप तो यहाँ पहले से बैठे हैं। पीया क्यों नहीं ? उन्होंने वही बातें दोहरा दी। चौथे व्यक्ति ने पानी निकाला, हाथ-पैर धोये, पानी पीया, और खाली बाल्टी रखकर जाने लगा। जाते-जाते उसने कहा- आप अमीरजादा, नवावजादा, शहजादा हैं तो मैं

हरामजादा हूँ। जब-जब अमीरजादे, नवाबजादे और शहजादे पैदा होते हैं तो हरामजादे को भी पैदा होना पड़ता है। वे पढ़े-लिखे प्यासे ही रह गये और वह पानी पीकर चला गया।

विचार करने की आवश्यकता है। कभी-कभी अध्ययन करने के बाद भी व्यक्ति के माथे में ऐसा भूत घुस जाता है। वह सोचने लगता है- मैं पढ़ा-लिखा विद्वान् हूँ। मैं काम कैसे कर सकता हूँ। विचार कीजिए कि जो पढ़ा-लिखा है, क्या वह सेवा नहीं करे ? माता-पिता वृद्ध हैं तो भी वह उनकी सेवा नहीं करे ? वे, जो अनपढ़ हैं, वे करें। तब समझ लीजिए कि ऐसी शिक्षा, जो माता-पिता, गुरुजन से दूरी कराये या भाई-भाई में भेद कराये, क्या वह पढ़ाई हो सकती है ? पढ़ाई तो कभी दूरियाँ नहीं बढ़ा सकती। विद्या के बारे में तो कहा गया है-

विद्या ददाति विनयं।

आप भी जानते होंगे, यदि नहीं जानते हों तो जान लीजिए कि जिस विद्या से विनय की प्राप्ति न हो, वह केवल तोता-रटन हो सकती है, विद्या नहीं। आपने कथा सुनी होगी कि एक तोते के मालिक ने तोते को रटा दिया कि 'बिल्ली आये तो बचते रहना।' तोते ने रट लिया- 'बिल्ली आये तो बचते रहना।' एक बार तोते को लेकर मालिक पिंजरे सहित तालाब के किनारे पहुँचा। वह स्नान की तैयारी करने लगा। थोड़ी देर के लिए पिंजरा खोल दिया कि तोता भी चहलकदमी कर ले। तोता बाहर निकलकर वही रटी हुई बात बोलने लगा। इतने में बिल्ली आ गई और तोते को उसने पकड़ लिया। तोते ने एक बार तो चीं-चीं की, फिर बोला- बिल्ली आये तो बचते रहना। बिल्ली के मुँह में पड़ा है पर बिल्ली से बचते रहने की सीख रट रहा है। मालिक ने देखा तो उसे अफसोस हुआ कि इसने रटन तो कर लिया, पर बिल्ली से बचकर नहीं रह सका। ऐसी ही यदि हमारी पढ़ाई होती है तो वह जीवन को श्रेष्ठ नहीं बना पायेगी, उन्नत नहीं बना पायेगी। पढ़ाई ऐसी होनी चाहिये, जिससे हमारे जीवन में विनय आवे। उद्दंडा पैर न जमा सके। अभी आप बालक हैं, अनुशासन की सुन्दर व्यवस्था से गुजर रहे हैं। इसमें रहने की आवश्यकता भी है।

आजकल व्यक्ति बड़ा स्वार्थी हो गया है और स्वार्थ-सिद्धि के लिए विद्यार्थियों को कठपुतली बना लेता है। कई राजनेता विद्यार्थियों को उकसा देते हैं। उकसा कर आंदोलन, तोड़-फोड़ के लिए प्रेरित करते हैं। स्कूल-कॉलेज में तोड़-फोड़ करवाते हैं। क्या आगे जाकर तुम ऐसा काम करोगे ? कोई राजनेता आकर कहे कि यह तो तुम्हारा अधिकार है, आंदोलन बिना काम नहीं होता। ऐसी भूमिका बनाकर वह कह दे कि हड़ताल करनी पड़ेगी, तोड़-फोड़ करनी पड़ेगी, आग लगानी पड़ेगी, तो क्या करोगे ? नहीं, ऐसा कभी नहीं करना है। बच्चे यदि तैयार हैं तो अपने हाथ ऊँचे करें। सभी ने हाथ ऊँचे कर दिये हैं। सभी अपनी सहमति दर्शा रहे हैं। तब मैं प्रतिज्ञा करवा दूं ? बोलो-

मैं कभी भी गलत नीतियों का समर्थन नहीं करूँगा। भारत मेरा देश है। मैं भारत की संपत्ति का दुरुपयोग नहीं करूँगा। मैं भारत की संपत्ति का विनाश नहीं करूँगा।" आपने प्रतिज्ञा की, यह बहुत अच्छा हुआ क्योंकि यदि स्कूल में ही आपने अपने जीवन को विनय में ढाल लिया तो आपका जीवन संस्कारित बनेगा, नहीं तो कॉलेज में जाने के बाद आप असंस्कारित ही रह जायेंगे और आये दिन प्रिंसिपल से झगड़े कर लेंगे। अतः हमारा अध्ययन ऐसा हो जो हमारे जीवन को विनम्र बना दे। भाई-भाई, पिता-पुत्र को आपस में जोड़ने वाला रहे। वह अध्ययन अध्ययन नहीं होता जो पिता को पिता मानने और भाई को भाई मानने की मानसिकता का विकास नहीं करता। एक दृष्टांत सुनिये।

एक किसान ने अपने पुत्र को अध्ययन करवाया। उसने सोचा कि मैंने हल जोतने में जीवन गुजार लिया, पर आने वाले युग में यदि यह पढ़ाई नहीं करेगा तो इसका जीवन अंधकार से परिपूर्ण रह जायेगा। इसलिए उसने अपने लड़के को अध्ययन करवाया। जैसे-तैसे उसके लिये फीस-पुस्तकें आदि जुटाई और लड़के को एम.ए. पास करवा दिया। लड़के की सर्विस भी लग गई। फिर एक वर्ष बीता। अच्छी आमदनी हुई। उसने एक बंगला बनवा लिया। फिर पदोन्नति हो गई। जैसे ही पदोन्नति हुई, मित्र कहने लगे। साहब, जब सर्विस लगी थी तब भी पार्टी नहीं दी थी, इतना समय निकल गया है, अब तो पदोन्नति भी हो गई है। अब तो

पार्टी देनी ही पड़ेगी। उसने भी दोस्तों की बात स्वीकार कर ली। पार्टी का आयोजन किया गया। नये बंगले में डाइनिंग टेबल लगाई गई। सारी व्यवस्था हो गई। पिता को भी जानकारी मिली कि वह मित्रों को पार्टी दे रहा है उसके मित्र बड़े-बड़े अफसर हैं और बड़े-बड़े ओहदों पर हैं। उसने सोचा- लड़के को पढ़ाया उसकी सर्विस लग गई। अब वह पार्टी दे रहा है तो मैं भी चलूं। उसने भी ऊँची धोती पहनी, नया साफा बांधा, कुर्ता पहना, जूते पहने, हाथ में डंडा लिया और वहाँ पहुँच गया। देखा, टेबलों के किनारे कुर्सियाँ लगी थी। एक कुर्सी पर वह भी बैठ गया। लड़का और उसके दोस्त अलग कुर्सियों पर बैठे थे। पार्टी चालू हो गई। इतने में एक मित्र ने किसान के पुत्र से पूछा, जो अब साहब बन गया था- "यह व्यक्ति कौन है ?" साहब ने जवाब दिया- "माय सर्वेन्ट।" किसान ने सुना तो सोचा- मेरा लड़का जब स्कूल से पढ़कर आता था तो मैं पूछता था कि आज क्या पढ़ा ? तब वह मुझे मदर, फादर, सिस्टर के अर्थ बताता था। तब उसने बताया था कि मदर का मतलब माता होता है और फादर का मतलब पिता है। पर आज तो मुझे यह सर्वेन्ट बता रहा है। मैंने तो सुना है कि सर्वेन्ट नौकर को कहते हैं। उसे गुस्सा आ गया। उसने अपने पैर की जूती उतारी और लड़के के माथे पर ठोकते हुए उसके मित्रों से कहा- साहब ! मेरा परिचय इससे क्या पूछते हो, मुझसे पूछिये। मैं इसकी माँ का हसबैंड हूँ। सारे लोग हक्के-बक्के रह गये। अपने पिता का परिचय उसने ऐसा क्यों दिया, विचार करें।

बन्धुओं ! जिस समय यह संस्था चालू हुई थी, उस समय भाव ये रहे थे कि जिस मिट्टी ने आचार्यश्री नानालालजी म.सा. जैसें सपूत को जन्म दिया। उसमें जरूर कुछ-न-कुछ खासियत होगी। इसलिए उस क्षेत्र का चयन किया गया। यह भी अनुभव किया गया था कि आस-पास के पूरे क्षेत्र के कुएँ गर्मी में सूख जाते हैं, किन्तु नानेशनगर के कुएँ सूखते नहीं। यह इनकी खासियत है कि दूसरे सूख जाते हैं, पर ये सूखते नहीं। दूर-दूर के लोग भी पानी ले जाते हैं, फिर भी यहाँ पानी बना रहता है। ऐसी कई विशेषताएँ उस भूमि में है जिसने नानेश को रचा। उनकी चारित्रिक महिमा अपरम्पार है। ऐसी भूमि का सौभाग्य आपको मिला है,

अत: ध्यान रखें कि ऐसा न हो कि आप केवल अध्ययन के पुतले रह जायें। ज्ञान के साथ विनय और कृतज्ञता के गुण भी आप सीखें। शास्त्रकार कहते हैं कि माता-पिता, गुरुजन एवं मुसीबत में जिन्होंने प्राणदान दिया, उनका उपकार नहीं चुकाया जा सकता। माता-पिता को भले अपनी चमड़ी के जूते बनाकर पहना दें, गुरु के उपकार के बदले भले जिन्दगी-भर उनकी सेवा-शुश्रूषा करें और जिसने जिन्दगी की रक्षा की, उनकी पूरी जिन्दगी सेवा करते रहें, फिर भी शास्त्रकार कहते हैं कि उनसे उऋण नहीं हो पाएंगे। कृतज्ञता बहुत बड़ा गुण है। एक पशु भी इतना समझता है, पर इन्सान चूक कर जाता है। वह बहुत बार इन्सानियत खो देता है। बड़े सेठ के यहाँ मुनीम रहता है। सेठ उसे आश्रय देता है। वही यदि घोटाला कर ले, सेठ को चकमा देकर स्वयं सेठ बन जाये तो दुनिया की निगाह में वह सेठ हो सकता है, पर ज्ञानीजनों की निगाह में वह कृतघ्न और ठगोरा ही रहेगा। सच्चा इन्सान वह नहीं हो सकता। अत: हमारी पढ़ाई हमें इन्सान बनाने वाली हो। आप भले बड़े राजनेता बन जायें, बड़े से बड़े पद पर चले जायें, फिर भी अपने गुरु का अपमान या तिरस्कार नहीं करें।

आपने सुना होगा कि स्वामी विवेकानन्द के गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस थे। वे सामान्य अवस्था में रहते थे। एक अंग्रेज स्वामी विवेकानन्द से बहुत प्रभावित हुआ और कहा कि मैं आपके गुरु के दर्शन करना चाहता हूँ। वह आश्रम में पहुँच गया और पूछा कि गुरुजी कहाँ हैं। पता चला अंदर हैं। वह अंदर गया और घूम-फिरकर वापस बाहर आ गया, कहा कि अंदर तो मुझे गुरुजी नजर नहीं आये। स्वामी विवेकानन्द उसके साथ अंदर गये। वहाँ श्री रामकृष्ण परमहंस सामान्य व्यक्ति के रूप में उपस्थित थे। वे कुछ कार्य में लगे हुए थे। अंग्रेज ने पूछा- वे कौन हैं ? स्वामी विवेकानन्द ने कहा- ये ही तो मेरे गुरु हैं। अंग्रेज के पैरों के नीचे की जमीन खिसक गई। ये आपके गुरु ! मैं तो इन्हें कुछ और ही समझ रहा था। यह गुरु कैसे हो सकते हैं ? विवेकानन्द ने कहा- आपकी और भारतीय संस्कृति में यही तो अंतर है। आप बाहर को देखते हैं, भारतीय संस्कृति अंतरंग को देखती है। इसलिए विदेशी जीवन बाहरी चकाचौंध से

प्रभावित होता है जबकि भारतीय जीवन अध्यात्म-प्रधान रहा है। यह बात अलग है कि आज उस पर भी पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा है और भारतीय अपनी संस्कृति को भूलते जा रहे हैं।

पढ़ाई का लक्ष्य होना चाहिये पढ़-लिखकर मानव बनना। इन्सान बनना, किन्तु कृतघ्न नहीं होना। अपना उपकार करने वालों के प्रति सदा कृतज्ञ भाव रहने चाहिये। यदि ये भाव रहते हैं तो ही पढ़ाई-लिखाई सार्थक होती है और ऐसी पढ़ाई ही हमारी सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने में समर्थ होती हुई आत्मा के अस्तित्व भाव को विकसित कर पायेगी।

21.09.200
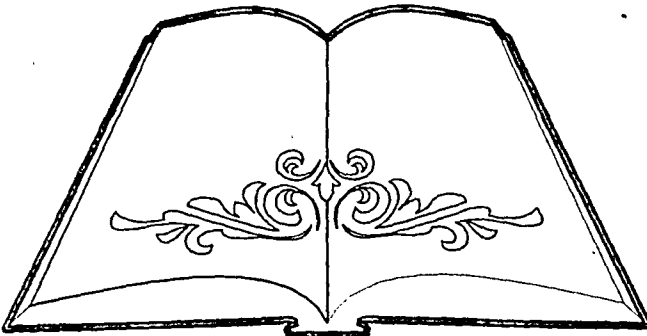
18. दुःख दोहग दूरे टल्या रे

संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से संतप्त है। दुःख कोई नहीं चाहता है फिर भी बिना चाहे दुःख प्राप्त होता है। कोई भी व्यक्ति कामना करके दुःख प्राप्त नहीं करता, न वह दुःख को आमंत्रित करता है और न ही वह चाहता है कि जीवन में दुःख आये, किन्तु फिर भी दुःख आता है। दुःख आ जाए, यह इतनी बड़ी बात नहीं है या यह इतना कष्टप्रद नहीं, जितना कष्टप्रद दुःख के साथ दुर्भाग्य का भी जुड़ जाना है। तभी कहा जाता है कि-

"काळ में अधिक मासो।"

एक तरफ दुष्काल है, फिर महीना अधिक हो जाए। एक तरफ घर में खाने के लाले पड़ रहे हों, ऊपर से संतति का विस्तार हो जाये तो चिंतनीय स्थिति बन जाती है। इसी प्रकार जब दुःख के साथ दुर्भाग्य जुड़ जाता है तब व्यक्ति बहुत कष्ट पाता है। क्षण-क्षण आत्मग्लानि से भर जाता है। तब जीवन इतना नीरस हो जाता है और वह विचार करता है कि ऐसे जीवन से तो मरना अच्छा। तब कभी-कभी ऐसे शब्द भी उसके मुँह से उच्चरित हो जाते हैं- 'हे भगवान ! यहाँ से मुझे उठा ले।' ऐसे शब्द तभी निकलते हैं जब व्यक्ति कष्टों में आकण्ठ डूब गया हो। भयंकर कष्ट की स्थिति में इतना डूब चुका हो कि उसे जीवन में रस प्राप्त नहीं हो रहा हो, नहीं तो कोई भी व्यक्ति मरने के लिए तैयार नहीं होता। कहा भी गया है-

"सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।"

सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। किन्तु मनुष्य जब भीषण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है, गहन अवसाद से ग्रस्त हो जाता है, जब उसे छुटकारे का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता, उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती है, सोचने-समझने की क्षमता कमजोर पड़ जाती है, सही

विचार मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं होते और हताशा के विचार मस्तिष्क में प्रवाहित होने लगते हैं, तब वे जीने के लिए प्रोत्साहित करने के बजाय, तोड़ने वाले बन जाते हैं। आत्महत्या तक करने के लिये विवश हो जाता है। ऐसी स्थिति में जीवन का कोई रस या जीवन का कोई आनंद वह प्राप्त नहीं कर पाता। जीवन में चरम असंतोष की इस विषम स्थिति से भिन्न एक अलग स्थिति भी है जो परम संतोष का कारण बन सकती है।

कवि आनंदघनजी विमलनाथ भगवान की प्रार्थना करते हुए परम संतोष का अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं कि मैंने विमलनाथ भगवान का आश्रय ले लिया है, अब इनके आश्रय में मेरी बुद्धि निर्मल हो गई है ! विचार कीजिये कि खादयुक्त स्वर्ण की जो कीमत बाजार में होती है, क्या वही शुद्ध सोने की कीमत होती है ? शुद्ध स्वर्ण की पूरी कीमत प्राप्त होती है, परन्तु उसमें यदि खाद मिला दी जाये तो उसकी कीमत बहुत कम हो जाती है। वैसे ही हमारी बुद्धि में तीन प्रकार के मल, तीन दूषण मिल जाते हैं तो हमारी बुद्धि उससे प्रभावित होती है, जिससे उसका मोल कम हो जाता है, क्योंकि वह सम्यक्, असम्यक् का सहसा भेद नहीं कर पाती, यह उसकी मलिनता ही है। बुद्धि की मलिनता से ही तीर्थंकर जैसे महापुरुषों के प्रति भी अन्यथा विचार कर लेते हैं कि अमुक तीर्थंकर के नाम के जाप से ही शान्ति मिलेगी, अमुक तीर्थंकर महान् थे। अमुक में वह महानता नहीं थी आदि। यथार्थ में कोई भी तीर्थंकर किसी से न्यून नहीं है। कोई तीर्थंकर दूसरे तीर्थंकर से अधिक नहीं है। हाँ, यह बात हम जरूर कहते हैं कि 23 तीर्थंकरों के उपसर्ग-परीषह एक तरफ और भगवान महावीर के जीवन में आने वाले उपसर्ग-परिषह एक तरफ, किन्तु उसके बावजूद जो आध्यात्मिक चरम विकास है, उसमें किसी तीर्थंकर में कोई अंतर नहीं होता है। हमारे और आपके ज्ञान, विचार और सोचने के तरीके में अंतर हो सकता है, किन्तु जितने भी तीर्थंकर होते हैं या सामान्य केवली होते हैं, उनके विचार होते नहीं, वे तो समाप्त हो जाते हैं, किन्तु उनके अध्यवसाय का धरातल एक समान रहता है। हम अपने अध्यवसाय से इन्द्रधनुषी रंग भरते हैं कि वह लाल है, वह काला है, वह नीला है आदि। किसी को क्रोध आ रहा है तो क्रोध के अनुसार वहाँ रंग बनेगा,

एक व्यक्ति अहंकार में चल रहा है तो अहंकार के अनुसार रंग बनेगा। इस प्रकार अध्यवसाय के अनुसार रंग बनेगा। जैसी-जैसी लेश्याएँ बनेंगी, वैसा-वैसा अध्यवसायों में परिवर्तन होता चला जायेगा। या यों कहूँ कि अध्यवसायों की चादर पर विभिन्न रंग होते हैं, किन्तु सर्वज्ञ होने के पश्चात् उसमें एक ही रंग होता है। उसमें अंतर नहीं आता। जो भी तीर्थंकर हो चुके हैं या वीतराग हो चुके हैं उन सबका एक रंग, एक अध्यवसाय स्थान होगा। ये बातें कुछ क्लिष्ट, हैं अतः सरल करके बता दूं।

यों समझें कि अंदर हमारे रंग भरे हैं तो हम किसी को लाल, किसी को नीला बताते हैं, किन्तु वहाँ एक ही रंग है, क्योंकि कषाय नहीं है। लेश्या सबमें एक समान है, परम शुक्ल लेश्या। इसलिए 13वें गुणस्थान में जाने वाले का एक ही रंग होता है। वहाँ कोई बदरंग नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञ-सर्वज्ञ पास बैठे हैं, तो न बात करने की आवश्यकता है, न नमस्कार करने की आवश्यकता है। किनको करें नमस्कार ? न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। जैसा एक का स्वरूप है, वैसा ही स्वरूप अन्य का है। कहीं कोई अलगाव है ही नहीं। शरीर का सद्भाव भले रह गया, पर अंतर का जो स्वरूप है वह एकरूप है। समान रूप में प्रकट हो जाता है। इसलिए तीर्थंकरों में, सर्वज्ञों में कोई भेद नहीं। यदि कहें कि शांतिनाथ भगवान साता कर देंगे, कही दुःख-दर्द हो जाये तो कोई बोलेगा-

**"शांतिनाथजी साता करो।
सभी जीवों को सुखी करो।"**

कहीं पीड़ा और कष्ट आये तो भगवान पार्श्वनाथ का स्मरण करेंगे कि वे पीड़ा हर लेंगे। क्योंकि जलते हुए सर्प की पीड़ा उन्होंने हर ली थी। कोई कहता है जोड़ा था, कोई कहता है एक सर्प था, जो भी हो, उससे मतलव नहीं हैं, पर जलते हुए सर्प की पीड़ा उन्होंने दूर की थी, इसलिए हम सोचते हैं कि हमारी पीड़ा भी पार्श्वनाथ भगवान के स्मरण से दूर हो जायेगी।

शांतिनाथ भगवान जव गर्भ में आये तव महामारी का जो भयावह रूप था उससे जनता हाहाकार करने लगी थी । उस समय की घटना है।

विश्वसेन विचार मुद्रा में गमगीन बने बैठे हुए हैं। सोच रहे हैं, रक्षा कैसे करूँ ? उस समय के राजाओं का प्रजा के प्रति अपार स्नेह होता था। वे प्रजा से केवल कर वसूलना ही नहीं जानते थे, बल्कि प्रजा सुख शांति से कैसे रहे, उसके जीवन में आने वाले दुःख-दर्द को कैसे दूर किया जाये, यह चिन्ता भी उन्हें रहती थी। वे बड़े रहमदिल होते थे और सम्पूर्ण प्रजा पर रहम करते थे। यदि कोई अत्याचार या अनीति करने वाला होता था तो उसके प्रति वे कठोर भी होते थे। ऐसे लोगों को सुधारने के लिए और अपराध वृत्तियों को रोकने के लिये कठोर दंड की व्यवस्था भी करते थे तथा कानून भी बनाते थे ताकि कोई ऐसे अपराध करने का साहस न जुटा सके।

महारानी ने जब सम्राट् को विचार निमग्न देखा तो कहा- पतिदेव! भोजन करिये। सम्राट् ने कहा- जनता में हाहाकार मचा हुआ है, ऐसी स्थिति में मेरे कंठ के नीचे निवाला कैसे उतरेगा ? क्या आज के नेता इस प्रकार का रहम करते हमें मिलेंगे ? उन्हें तो केवल अपने काम से मतलब है, कौन दुःखी है, कौन संतप्त है, इससे कोई मतलब नहीं। यही कारण है कि जनता चुनाव में उन्हें अस्वीकृत भी कर देती है, जबकि पूर्व के सम्राट् जिन्दगीपर्यन्त राज्य-संचालन करते थे, पर जनता को गर्म हवा का एक झोंका भी नहीं लगने देते थे। महारानी ने कहा- आप चिन्ता त्याग दें, मैं प्रयत्न करती हूँ। उसने छत पर पहुँचकर चारों ओर दृष्टि प्रक्षेप किया और चारों ओर शांति का साम्राज्य व्याप्त हो गया। इसीलिए कहते हैं कि जब अशांति का वातावरण हो तब शांतिनाथ भगवान का स्मरण करो। स्मरण भले आप किसी का भी करें, पर यदि मन में विचार है कि शांतिनाथ भगवान ही रक्षा करेंगे, दूसरे का स्मरण करने से पता नहीं साता मिले या न मिले, तो समझ लीजिए कि मति निर्मल नहीं है। उसमें मल रहा हुआ है। ऐसी मलयुक्त मति आगे नहीं बढ़ा सकती। वह जीवन-विकास को रोकती रहेगी। इसलिए मति का निर्मल होना आवश्यक है।

कुछ दिन पहले मैं शास्त्रीय पाठ के आधार पर बोल गया था-

'थव थुइ मंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?'

स्तव-स्तुति करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? तीर्थंकर देवों की स्तुति करने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की बोधि का लाभ होता है। यह बोधि सन्मति का सूचन है। वह मति को निर्मल करने वाला होता है। मति निर्मल होती है तभी ज्ञान-दर्शन-चारित्र निर्मल हो सकते हैं। परन्तु यदि मति ही निर्मल नहीं है तो सम्यक् ज्ञान कैसे रहेगा ? दर्शन व चारित्र सम्यक् कैसे बन पायेंगे ? इसलिए स्तुति करते हुए कह रहे हैं-

'विमल जिन दीठा लोयण आज।'

आज मेरे नयनों ने विमलनाथ भगवान के दर्शन किये। हम भले कह दें कि वे 13वें तीर्थंकर हैं, परन्तु यह कहकर तो नाम लेते हैं जबकि वस्तुतः भाव होता है- विगतः मलः - जिनका मल निकल गया है ऐसे सभी तीर्थंकर की हम स्तुति करते हैं-

दुःख दोहग दूरे टल्या रे....।

अब मुझे कोई भय, चिन्ता नहीं। सारे दुःख, दुर्भाग्य दूर हो गये हैं। ऐसे भाव बिना तीर्थंकर देवों के प्रति अनुराग के नहीं जग सकते। परन्तु जब तक मन में उनके प्रति अनुराग के भाव नहीं जगेंगे तब तक विचार और ऐसी दृढ़ता भी व्यक्त नहीं होगी। जब उनके दर्शन हो गये तो फिर वहाँ दुःख-दुर्भाग्य टिक नहीं सकता। जहाँ सूर्य उदित हो जाये, वहाँ अंधेरा रह ही नहीं सकता। हाँ, अगर कोई ओढ़कर सो जाये तो भले अंधेरे में रह जाये, बाकी सूर्योदय के पश्चात् अंधकार रह नहीं सकता। वैसे ही जहाँ ऐसा विश्वास बन जाता है, वहाँ दुर्भाग्य की छाया टिक नहीं सकती, रह नहीं सकती। जब दुर्भाग्य रह नहीं सकता तो फिर दुःख कष्टदायी नहीं लगेगा। दुःख हो तो भी उससे व्यक्ति परास्त नहीं होता।

महारानी त्रिशला के मन में भी उतार-चढ़ाव की स्थिति बन गई थी। हालांकि वे सम्यग्दृष्टि आत्मा थीं। भगवान पार्श्वनाथ के धर्म को स्वीकार करके चलने वाली थी। किन्तु फिर भी जीवन-व्यवहार में व्यक्ति कभी-कभी विचलित हो जाता है। त्रिशला भी विचलित हो गईं। क्यों हो गई ? गर्भ में रहने वाले शिशु ने सोचा- मेरे हलन-चलन से माता को तकलीफ होती है। मेरी माता को कष्ट नहीं हो, उनके गर्भ में मैं रह

हूँ, वे उस वजन को लेकर चल रही हैं। इसके अलावा कोई कष्ट उन्हें नहीं होने दूं। हाथ-पैर संकुचित कर लिये, हलन-चलन बंद कर दी। हलन-चलन बंद होते ही माता की हलन-चलन, धड़कन बढ़ गई। उस समय यदि बी.पी. इंस्ट्रूमेंट होता तो डॉक्टर उसी समय जाँच कर लेते, रक्त की गति देख लेते और ज्ञात कर लेते। आज सीटी स्केन के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर को चैक कर लेते हैं और फिर कह देते हैं कि कुछ नहीं है, सब नार्मल है। 2-4 दिन की दवा देकर सांत्वना दे देंगे और क्या। परन्तु उस समय बीमारी को पकड़ने का प्रयत्न किया जाता था। किन्तु माता त्रिशला की बीमारी पकड़ में नहीं आई। माता हतप्रभ रह गई। मन खिन्न हो गया, चिन्ता ने घेर लिया और चेहरे पर उदासी छा गई। शरीर अशक्त हो गया मानों कई दिनों से बीमार हों। थोड़ी देर पहले जहाँ मंगलगायन चल रहे थे, हर्ष का वातावरण था, वहाँ का सारा रंग बदल गया। इसी आशय से ज्ञानी जन कहते है कि देह हैं संसार का स्वरूप।

एक सेठजी व्याख्यान सुन रहे थे। आज के समय में थोड़ा रूपान्तरण हो गया, किन्तु पहले के श्रावक जब महाराज व्याख्यान देते या कुछ बोलते तो खम्मा तहत्ति अन्नदाता कहकर झेलते थे। आजकल झेलते नहीं, ऊपर-ऊपर से निकल जावे। आप कहेंगे बीच में बोले तो डिस्टर्ब होगा। इसलिए वाणी झेलने की प्रक्रिया प्रायः समाप्त-सी हो गई है। सेठजी तन्मयता से सुन रहे थे और सत्य कहकर उसे झेल रहे थे। इतने में मुनीमजी आये। उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, श्वांस ऊँची-नीची हो रही थी, कुछ कह नहीं पाये। सेठजी के चेहरे पर भी केवल उनको देखते ही हवाइयाँ उड़ने लग गई। क्या बात है ? मुनीमजी ने कान में फूंक दी तो चेहरे का सारा रंग बदल गया। अब तक वीतराग वाणी में मशगूल हो रहे थे, पर अब सारा नक्शा बदल गया। सेठजी के मुँह से वाणी थी निकलनी बंद हो गई। स्थिति यह हो गई थी कि यदि कोई ढाढस की बात कहता तो शायद रो पड़ते। इधर सेठ व मुनीम का हाल विचित्र हो रहा था, उधर लड़का भी आ पहुँचा। उनकी हालत देखकर उसने कहा- जो बाहर से स्टीमर आ रहा था, वह समुद्र में डूब गया। लाखों रुपये का नुकसान हो जाता, किन्तु चिन्ता की कोई बात नहीं, वह माल बेचा हुआ

था। इतना सुनते ही, खम्मा घणी कहकर व्याख्यान सुनने में पुनः मशगूल हो गये। तभी छोटा लड़का आया। बोला- पिताजी ! बात सुनी ? वे बोले- हाँ-हाँ सुन ली। उसने कहा- क्या सुन ली ? उत्तर मिला- डूब गया, पर वह बेचा हुआ था। छोटा बेटा बोला- पिताजी! बेचा नहीं था, बेचने की बात हुई थी। वापस उनके चेहरे का नूर बदल गया। धूजने लग गये। जैसे पौष का महीना हो और ठण्ड से व्यक्ति धूज रहा हो। किन्तु जो ज्ञानी हो और दृढ़ अध्यवसाय वाला हो, वह सोचता है जो मेरा है उसे कोई छीन नहीं सकता, जो मेरा है वह कभी अलग हो नहीं सकता। जो मेरी नहीं है वही चीज जा सकती है। जो मेरा है वह मेरे से अलग कैसे हो पाएगा ! पर सेठजी के चेहरे का सारा रंग बदल गया। इसे संसार की दशा नहीं कहें तो और क्या कहा जाये ?

महारानी त्रिशला विचार करने लगी- गर्भ को क्या हो गया ? गल गया ? किसी ने चुरा लिया या मृत्यु हो गई ? आखिर हुआ क्या ? संचरित क्यों नहीं होता ? माता के मन में घबराहट एवं अनेक संशय चलने लगे। वैद्यों में परस्पर परामर्श चलने लगा, पर कुछ हो तो कोई बताये। परिवार में मायूसी का माहौल बन गया। ऐसा प्रसंग बनता है तो वर्णन करते हुए कवि कह उठते हैं-

क्षणभंगुर हैं सुख के साधन, नहीं करना विश्वास।
सुखसाधन में जो नर अटके, बन जाता वह दास।।

बंधुओ ! चिन्तन करना। जिन सुख-साधनों के पीछे हम पागल बन रहे हैं, जिन्हें पाने के लिए रात-दिन हाय-हाय करते चौबीसों घंटे व्यतीत कर देते हैं, वे क्षणिक हैं, क्षणभंगुर हैं। वे आपके हाथ में कब तक रहते हैं ? समय बदलते ही वे पराये हो जाते हैं। आंखे बंद होते ही, नजारा बदल जाता है।

तू भूल के अपने आप, रहा कर पाप,
रे चेतन प्यारा, दुनिया में कौन हमारा।।

जिसको अपना कहते हो, यह मेरी संतान है, यह मेरा परिवार है ऐसे भाव जिनके बारे में रखते हो, उनका अवसान होते ही कैसे बदल जाती है आपकी मनोवृत्ति !

दलबल देवी देवता, माता-पिता परिवार।
मरती बिरिया जीव को, कोई न राखनहार॥

आप ये सब बातें जानते हैं, पर जानकर भी अनजान बनकर जी रहे हैं। जाना कहाँ है ? हमनें केवल पढ़-सुन रखा है कि जाना नहीं है। यदि जाना होता तो हमारी अवस्था कुछ भिन्न होती। क्या होती ? आप कहेंगे पाटे पर बैठ गये होते। पाट पर बैठे, नहीं बैठे, कोई फर्क नहीं पड़ता। क्या सिद्ध क्षेत्र में पाटा है ? किस पर बैठे हैं सिद्ध भगवान ? लोक के अग्रभाग में उनका अवस्थान है। वे आकाश में अधर हैं। वहाँ न पाटा है, न भाटा है। इसलिए न पाटे का लगाव हो, न भाटे का। जब हमारी आत्मा अगुरुत्व में आ जाएगी तो पाटे की या भाटे की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। वह अवस्था बन सकती है, किन्तु जब तक बाहर के पदार्थों में लगाववृत्ति रखकर चलते हैं और गहरे दलदल में, चले जाते हैं तो पाटे से भाटा और भाटे से भी न जाने क्या हो जाता है।

महारानी त्रिशला की बात चल रही थी कि गर्भ की स्थिति के कारण चिन्ता हुई और नीतिकारों ने/शास्त्रकारों ने अपनी बात कह दी थी। इस कारण वे गीत, वैराग रंग काटने दौड़ रहे थे। उन्होंने कहा- बंद करो, ये अच्छे नहीं लगते। थोड़ी देर पहले वे ही अच्छे लग रहे थे पर अब उन्हें हटाने की बात कही जा रही थी क्योंकि उनमें रस नहीं आ रहा था। कहाँ चला गया था रस ? निश्चित है, रस उन वाद्यों में नहीं था। हम ही संबंध जोड़कर रस पैदा कर लेते हैं। ध्यान रखिये, रस में रसज प्राणी पैदा हो जाते हैं। उसके साधनों से संबंध जोड़ा तो वही मोह-व्यापार कर्मबंध कराने वाला बनता है। हम सुन रहे थे कि हम जान नहीं रहे हैं। किताबों में पढ़ लिया, वचनों में सुन लिया, पर जान नहीं रहे हैं।

माता की कथा शिशु ने अवधिज्ञान से जान ली और अंग-संचार शुरू कर दिया। माता के मन में हर्ष व्याप्त हो गया। हमें चिन्तन-मनन करना है कि मति विगतमल हुई है या नहीं ? हम वस्तुतः विमलनाथ भगवान के दर्शन कर पाये हैं या नहीं। हम केवल तोतारटन में चल रहे हैं? या आध्यात्मिक जीवन का अनुभव भी कर रहे हैं ? यदि कर रहे हैं तो वह क्षण महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यदि केवल वाणी-विलास में समय जा

रहा है तो वह पुण्यबंध तो करा देगा, किन्तु उसके आगे बढ़कर आत्मशुद्धि नहीं करा पाएगा। तीर्थंकरों के प्रति हमारी भावना निर्मल एवं श्रद्धायुक्त बने और हम सौदेबाजी न करें। जो कुछ अर्जित है, उसे छोड़ें, फिर केवल निखालिस तत्त्व रह जायेगा। उसे स्वयं में प्रकट करने की तैयारी करें तभी हमारा जीवन धंन्य होगा। जब मन निर्मल हो जायेगा तब तीर्थकरों में अंतर करने की हमारी वृत्ति भी नष्ट हो जायेगी और परमकल्याण का मार्ग खुल जायेगा और हम आस्थापूर्वक कह सकेंगे- दुःख दोहग दूरे टल्या रे ! इस स्थिति को प्राप्त करने की दिशा में हम प्रवृत्त हों।

22.09.2000

श्री राम उवाच
की प्रकाशित श्रृंखला